* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *
कल्याण
वर्ष ६४
संख्या १०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,९०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष, वि० सं० २०४७, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१६, जनवरी १९९१ ई०

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें २.०० रु०
विदेशमें २० पेंस

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
(डाक-व्ययसहित)
भारतमें ४४.००रु०
विदेशमें ६ पौंड
अथवा १० डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित
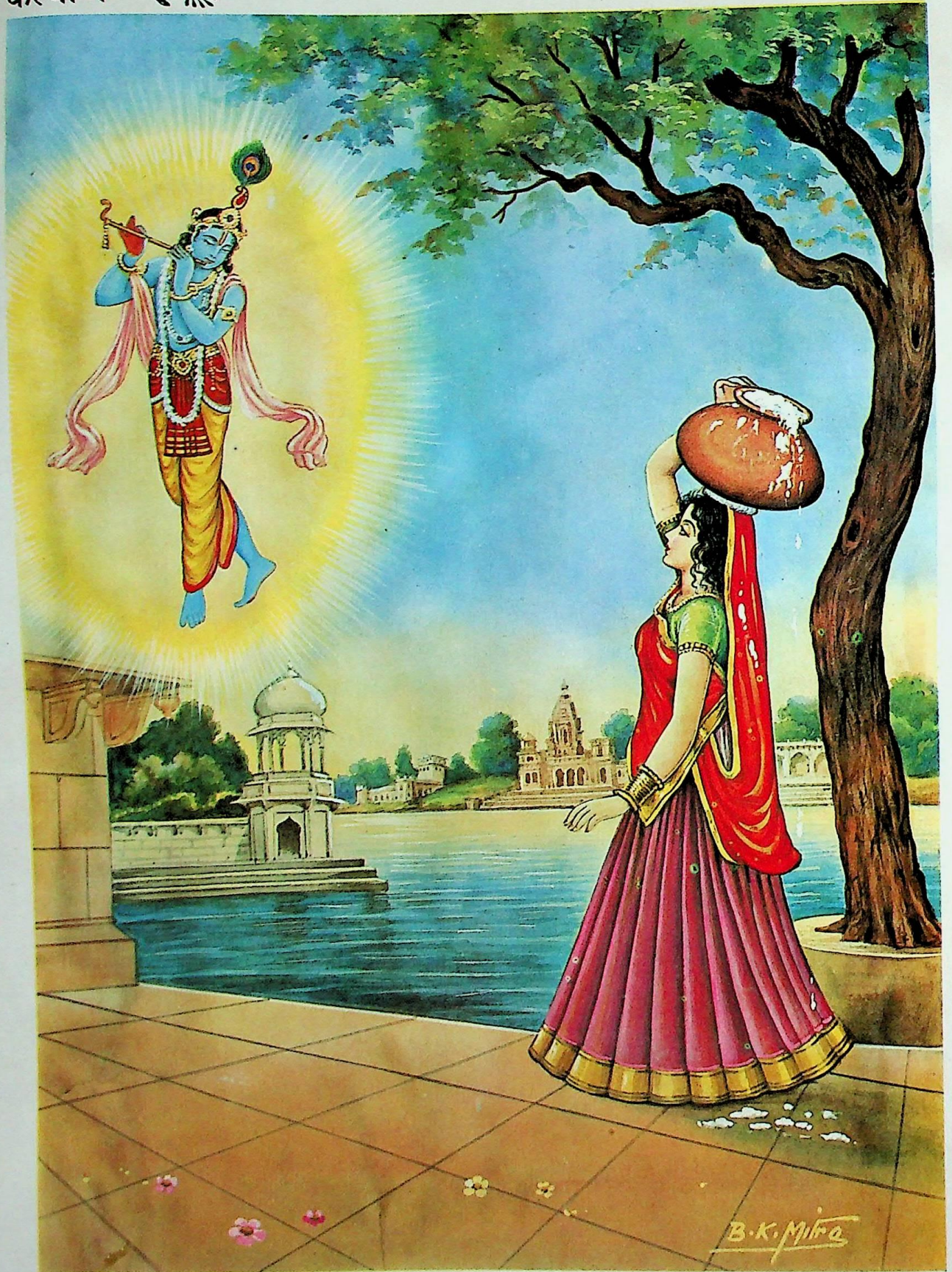
ग्वालिनी प्रगट्यो पूरन नेह

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

कल्याण

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ।।

वर्ष ६४ } गोरखपुर, सौर पौष, वि॰सं॰ २०४७, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१६, जनवरी १९९१ ई॰ { संख्या १०
पूर्ण संख्या ७६७

गोपी-प्रेम

दधि बेचत ब्रज गलिन फिरै।
गोरस लेन बोलावत कोऊ, ताकी सुधि नेकहु न करै ।।
उनकी बात सुनत नहिं श्रवननि, कहति कहा ये घर न जरै।
दूध दह्यो ह्याँ लेत न कोऊ, प्रातहि ते सिर लिये ररै ।।
बोलि उठति पुनि लेहु गोपालहिं घर-घर लोक-लाज निदरै।
सूरश्यामको रूप महारस जाके बल काहू न डरै ।।

कल्याण

किसी भी प्राणीको किसी प्रकारसे दुःख मत दो। दूसरेको दुखी करके सुखी होनेकी दुराशा छोड़ दो। दूसरेको दरिद्र बनाकर धनी बननेकी लालसा मत रखो। पता नहीं, तुम कब मर जाओगे। मरते ही तुम्हारा सारा मनोमहल ढह जायगा। यह मनुष्यका भ्रम है कि जो वह अधिक कालतक जीकर भोग भोगनेकी आशामें दूसरोंके भोगोंको लूटना या मारना चाहता है। मौतको सदा सिरपर सवार देखो और यह निश्चय समझो कि मौत आते ही तुम्हारा कहीं कुछ भी नहीं रहेगा।

मरनेके एक क्षण पहलेतक मनुष्य न मालूम कितने मनसूबे बाँधता है, घरमें उसका एक स्थान है, वह घरका एक मालिक या हिस्सेदार है, परंतु जहाँ मौत आयी कि उसके सारे मनसूबे ज्यों-के-त्यों रह जाते हैं, उसका घरमें कहीं भी स्थान नहीं रहता।

घरकी चीजोंको मेरी-मेरी कहते हो, जिन चीजोंको अपनी बनाना चाहते हो, उन सबसे तुम्हें जबरदस्ती अपना सम्बन्ध छोड़ देना पड़ेगा। अच्छी बात इसीमें है कि पहलेसे ही सावधान हो जाओ। और जिन वस्तुओंको आखिर छोड़ना ही है उनके लिये अन्याय, अधर्मका आश्रय लेना छोड़ दो। किसी वस्तुको अपनी मत समझो, किसी वस्तुका अहंकार न करो, किसी वस्तुकी कामना न करो, जगत्‌में बेपरवा रहो और मस्त हो जाओ। मस्तीकी मौत भी मौज ही होती है।

धन, नाम, कीर्ति, सम्मान कमानेकी चाह छोड़ दो। कमायी करो अच्छे आचरणोंकी, सद्‌गुणोंकी, वैराग्यकी, ज्ञानकी और भगवद्भक्तिकी। तुम्हारे पास बहुत धन है, परिवार भी बड़ा है, जगत्‌में तुम्हारा काफी अच्छा नाम है, लोग तुम्हारे पैर पूजते हैं, परंतु यदि तुम्हारा अन्तःकरण मलिन है, तुम्हारे आचरण अपवित्र हैं, तुम्हारा मन और शरीर क्षणभङ्गुर भोगोंमें आसक्त है, तुम भोगोंको ही नित्य, सत्य और सुखका साधन समझते हो और श्रीभगवान्‌के चरणोंमें तुम्हारा किञ्चित् भी प्रेम नहीं है तो निश्चय समझ लो, तुम्हारा मनुष्य-जीवन बिलकुल व्यर्थ है और तुम्हारे इस जीवनका फल आगे चलकर तुम्हारे लिये बहुत ही कष्टमय होगा।

सदा अन्तःकरणको पवित्र बनानेमें लगे रहो। अपने आचरणोंको शुद्ध करो। सबके प्रति प्रेम करो। सबका सत्कार और आदर करो। सबका हित करो, किसीका भी बुरा न चाहो। संसारके क्षणभङ्गुर भोगोंसे चित्तको हटाकर भगवान्‌में लगाओ। इस बातकी परवा छोड़ दो कि लोग तुम्हें क्या कहते हैं। लोग तो अपने-अपने मनकी कहेंगे। राग-द्वेषका चश्मा जैसा होगा वैसा ही कहेंगे। उनकी प्रशंसामें भूलो मत और उनकी निन्दासे घबराकर अपने लक्ष्यसे हटो मत। सब काम भगवान्‌की प्रीतिके लिये करो और इस बातका सदा ध्यान रखो कि जिस कार्यमें किसी भी प्राणीका अहित है, वह कार्य भगवान्‌की प्रीतिके लिये नहीं हो सकता।

भोगोंकी बातें न अधिक करो, न अधिक सुनो, उनमें जितनी जरूरत हो, उतना ही मन लगाओ और उतनी ही उनके बारेकी बात करो। शेष समय अपने मन और वाणीको भगवान्‌की ओर ही लगाये रखो। शरीरसे जो कुछ करो, सब भगवान्‌की सेवा समझकर करो। घरमें अपनेको मालिक मत समझो, वरं एक सेवक समझो और यथासाध्य ईमानदारीके साथ भगवत्सेवाके भावसे घरके काम करो। अपना व्यवहार दूसरेके घरमें कुछ समयके लिये टिके हुए अतिथिका-सा रखो। इस घरको अपना स्थायी घर, घरकी चीजोंको अपनी चीजें, घरके सेवकोंको अपने सेवक और घरकी सम्पत्तिको अपनी सम्पत्ति मत समझ बैठो। सावधान, तुम्हारे व्यवहारसे किसीके दिलपर चोट न पहुँचे।

चित्तकी धाराका प्रवाह एक भगवान्‌की ओर ही रहे, इस बातके लिये सदा यत्न करते रहो, जगत्‌की ओर कहीं मुड़े तो वह भी भगवान्‌की ओर जानेके सीधे रास्तेकी खोजमें ही! कहीं जरा-सी भी गड़बड़ी दीखे तो तुरंत प्रवाहको उस ओरसे वापस मोड़ लो। याद रखो—धन, जन, परिवार, शरीर, यश, सम्मान कुछ भी तुम्हारे साथ नहीं जायँगे। परलोकमें ये तुम्हारे काम नहीं आयेंगे, तुम्हें विपत्तिसे नहीं बचायेंगे। अतएव इनके लिये जीवनको मत गँवाओ। यदि भाग्यवश ये मिल गये तो सावधान रहो, कहीं तुमपर इनका नशा न चढ़ जाय—तुम कहीं भगवान्‌के मार्गसे हट न जाओ। इनसे चिपटो मत, मनको सदा इनसे अलग रखनेकी चेष्टा करो और हो सके तो इनका भी भगवत्प्रीतिमें ही उपयोग करो।

—'शिव'

भगवद्भक्त महात्माका स्वरूप एवं प्रभाव

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके प्रवचनका एक अंश)

आपने कहा कि ऐसी बात कहिये जिससे हम लोग महात्मा पुरुषोंके वचनोंके अनुसार बन जायँ तो हम तो यह कह रहे हैं कि एक पीढ़ी और आगे बढ़ें, क्योंकि महात्मासे परमात्मा बड़े हैं, इसलिये परमात्माके वचनोंके अनुसार ही हो जायँ। गीता साक्षात् भगवान्‌का वचन है, श्वास है, हृदय है, इसलिये यह भगवान्‌की वाङ्मयी मूर्ति है। अतः अपना जीवन गीतामय बनाना चाहिये। रही बात वक्ता और श्रोताकी। दोनोंमें ही अद्भुत शक्ति होती है। उन दोनोंके विषयमें—लौकिक विषयमें और अध्यात्मविषयमें भी शास्त्रोंमें एक कथा आती है। महाभारतमें लिखा है—तुलाधार नामका एक वैश्य था, उसके पास एक बार जाजलि ऋषि आये। उन्होंने समुद्रके किनारे बड़ी भारी तपस्या की थी। तपस्या-कालमें उनके मस्तकपर पक्षियोंने घोंसला बना लिया। उनको जब यह मालूम हो गया कि पक्षियोंने मेरे मस्तकपर घोंसला बना लिया है तो वे कुछ नहीं बोले, अचल रहे, ठूँठकी भाँति न हिले न डुले, शौचादिकी तो बात ही नहीं, न खाना न पीना और न सोना। वृक्षकी भाँति स्थिर ही रहे। पक्षियोंके बच्चोंने फिर जब अंडे दिये तो पहिलेके पक्षी उड़ गये। अब जो पक्षी पैदा हुए थे, उन पक्षियोंका जोड़ा बहुत समयतक उसमें रहा। रातको वे घोंसलेमें आ जाते, प्रातःकाल चूगा-पानीके लिये चले जाते। एक समयकी बात है—वे पक्षी उड़ गये और फिर एक महीनेतक लौटकर वापस नहीं आये। जाजलिने सोचा कि अब उन्होंने कहीं दूसरी जगह घोंसला बना लिया है, इसलिये इस बोझको हटा दो। सिरका बोझ उन्होंने हटा दिया। इसके बाद उनके मनमें अहंकार आ गया कि संसारमें मेरे समान क्या कोई तपस्या कर सकता है। उनके इस प्रकार अहंकार करनेपर आकाशवाणी हुई कि हे जाजलि! तुम इतना अभिमान मत कर। तुलाधार वैश्य जैसी तपस्या करता है, उसकी तपस्याके सामने तुम्हारी तपस्या कुछ भी नहीं है। जाजलिने सोचा कि अच्छा चलो, तुलाधार वैश्यके पास चलें, देखें कि तुलाधार वैश्य कौन है, तुलाधार वैश्यको पूछते-पूछते वे उसके पास आये और देखा कि वह दुकानपर बैठकर क्रय-विक्रय कर रहा है, सौदा बेच रहा है—नमक, तेल, चीनी, घी, आटा सभी खाद्य पदार्थ बेच रहा है, रस भी बेच रहा है, पर मदिरा और लाख आदि नहीं। यह देखकर जाजलिने सोचा—यहाँ आकाशवाणीके अनुरूप कोई बात तो नहीं दीख रही है या मुझे भ्रम तो नहीं हो रहा है—ऐसा सोचकर वे वापस जाने लगे। तब तुलाधार वैश्य उन्हें वापस जाते देखकर अपने आसनसे उठा और हाथ जोड़कर कहने लगा—महाराज ! समुद्रके किनारे आपने जिस तुलाधारके विषयमें आकाशवाणी सुनी थी, वह तुलाधार वैश्य मैं ही हूँ। यह सुनकर उन्हें और भी आश्चर्य हुआ, यह भी इसको कैसे पता लगा। अपनी तपस्याकी बात तो मैं ही जानता हूँ, इसे कैसे मालूम? फिर बोले—अरे बनिया! जब तूँ रस बेचता है, क्रय-विक्रय करता है, तब तुम्हें इस प्रकारका ज्ञान कैसे हुआ? उसने कहा कि महाराज! मैं सत्य बोलता हूँ और सबके साथ सम व्यवहार करता हूँ। चाहे कोई बुद्धिमान् आ जाय या मूर्ख, बालक आ जाय अथवा युवा, कोई भी आ जाय उसके साथमें मेरा व्यवहार समान-भावसे होता है; इतना ही नहीं, सुख और दुःख, निन्दा तथा स्तुति, मान अथवा अपमान मेरे लिये समान हैं। गीतामें गुणातीतके और भक्तोंके लक्षणमें समताके जो लक्षण लिखे हैं, वे सब लक्षण उन्होंने अपनेमें बतलाये। इसी कारण उन्हें इस प्रकारका ज्ञान हो जाता था। उसका जो क्रय-विक्रय था वह त्यागपूर्वक था, संसारके कल्याणके लिये ही था, रुपयोंके लिये स्वार्थ-बुद्धिको लेकर नहीं था। जाजलिने कहा कि तुम बात बड़ी-बड़ी करते हो और कार्य तो तुम्हारा बहुत ही नीचा है। तुलाधार बोले कि महाराज! मेरे कार्यकी ओर आप देखते हैं? किंतु खेद है कि इस समय ब्राह्मण लोग अपने यज्ञका परित्याग करके क्षत्रियोचित यज्ञोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्त हो रहे हैं। धन कमानेके प्रयत्नमें लगे हुए बहुत-से लोभी और नास्तिक पुरुषोंने वैदिक वचनोंका तात्पर्य न समझकर सत्यसे प्रतीत होनेवाले मिथ्या यज्ञोंका प्रचार कर दिया है, वे तो यज्ञमें पशु-हिंसातक करते हैं, जो वेद-विरुद्ध है। वेदोंमें पशु-हिंसा करना लिखा ही नहीं है, इन ब्राह्मणोंने ही इस प्रकारकी बात चलायी थी। उसके बाद तुलाधार आकाशमें उड़ते हुए उन पक्षियोंकी ओर इशारा कर बोले—हे

जाजले ! ये वे ही पक्षी हैं, जिन्होंने आपके मस्तकमें घोंसला बनाया था। आप इनको बुलाइये, जिससे ये आपके मस्तकमें अभी आकर बैठें। उन्होंने पक्षियोंको बुलानेका संकेत किया, तत्काल वे पक्षी आये और उनके सिरपर बैठ गये। और उन्होंने मनुष्यके समान स्पष्ट वाणीमें तुलाधारद्वारा उपदिष्ट धर्मोंका ही वर्णन किया। तब जाजलिने तुलाधारसे कहा— तुम्हारे वचनोंकी शक्तिको देखकर तुम्हारेमें मेरी श्रद्धा हुई, क्योंकि ये पक्षी भी तुम्हारी ही बात मान रहे हैं। इसके बाद उपदेश ग्रहण कर जाजलि वहाँसे चले गये। कहनेका अभिप्राय यह है—तुलाधार वैश्यकी यह एक अलौकिक शक्ति थी। एक प्रकारसे यह एक सांसारिक प्रभाव है। अध्यात्मविषयका प्रभाव तो उच्चकोटिका माना जाता है। क्योंकि उससे दूसरेका कल्याण हो जाता है। यह कहकर मैंने यह बतलाया कि महापुरुषोंकी शक्तिके प्रभाव— शाप दे देने, वरदान दे देने, आशीर्वाद दे देनेकी कथासे शास्त्र भरे हुए हैं। उपनिषद्, पुराण, इतिहास, महाभारत, वाल्मीकीय रामायण, भागवत आदिमें बहुत-से उदाहरण हैं। जो सत्यवादी होता है, उसकी वाणीमें भी यह शक्ति आ जाती है फिर जो साक्षात् भगवत्प्राप्त पुरुष है, उसकी तो फिर बात ही क्या है।

दूसरी शक्ति जो श्रोताके विषयमें है उसे कह रहा हूँ। जैसे पाण्डवोंकी माता कुन्तीने आदेश दिया कि तुम यह जो आज भिक्षा लाये हो उसका पाँचों भाई उपभोग करो, यानी काममें लाओ। भीमसेनने इसपर कहा कि माँ ! आजकी भिक्षामें एक स्त्री लाये हैं। माँने कहा कि तूने स्त्रीका नाम तो लिया नहीं। 'माँ ! भिक्षा लाये हैं' यही कहा । कुन्तीने फिर सोचा—बहुत मुश्किलकी बात हुई, जो मैंने कह दिया कि तुम पाँचों ही इसको काममें लाओ, अब यह बात सत्य कैसे होगी। हमारे इस वचनका सत्य होना बहुत ही कठिन है, इस बातको सत्य करना मेरे हाथकी बात नहीं है। इसे सत्य करना तो पाण्डवोंके हाथकी बात है। इसपर राजा युधिष्ठिरने कहा कि माँ ! इस आज्ञाका हमलोग पालन करेंगे और पाँचों मिल करके ही इसके साथ विवाह करेंगे। यह बात शास्त्रके भी विरुद्ध है तथा लोकके भी विरुद्ध है। परंतु महाराज युधिष्ठिरने माताके वचनोंका आदर किया, उनका पालन किया। इस प्रकारसे माताके वचनोंका, महात्माओंके वचनोंका जहाँतक जिस किसीने पालन किया, उस पालन करनेवालेकी शक्तिको श्रद्धा कहो या उसका प्रेम जो कुछ कहो।

जबालाके पुत्र सत्यकामने गुरुकी आज्ञाका पालन करके ब्रह्मकी प्राप्ति की। राजा द्रुपद शिवजीकी आज्ञा मानकर लड़कीको लड़का ही समझे और दूसरे राजाकी कन्याके साथ उसका विवाह कर दिया, उसमें सफलता ही हुई । धौम्यमुनिके शिष्य आरुणिने गुरुकी आज्ञाका पालन करके बिना पढ़े ही सारे शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया। ऐसे बहुतसे आज्ञा देनेवाले तथा पालन करनेवाले दोनोंके उदाहरण शास्त्रोंमें मिलते हैं। शास्त्रों और महात्माओंकी आज्ञाका पालन हमलोगोंको करना चाहिये, उसी प्रकार चलना चाहिये। हमारेमें यदि ऐसी शक्ति होती तो आज सैकड़ों-हजारों आदमी तैयार हो गये होते और भगवत्प्राप्त पुरुषोंके तुल्य हो जाते या भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती। परंतु हम जो कुछ कह रहे हैं वह प्रार्थनाके रूपमें कह रहे हैं, विनयके रूपमें कह रहे हैं, कुछ उपदेश-आदेशके रूपमें नहीं, गुरु-शिष्यके भावसे नहीं। न स्वामी-सेवकके भावसे कह रहे हैं, जो कुछ कह रहे हैं वह मित्र-भावसे ही कह रहे हैं। इस मित्र-भावसे कहनेका भी एक रहस्य है। वह रहस्य यह है कि हम स्वामीके रूपमें, गुरुके रूपमें नहीं कहते, क्योंकि ऐसा करना हम अपना अधिकार नहीं समझते हैं। कारण कि मैं वैश्य वर्णका गृहस्थाश्रमी व्यक्ति हूँ, दूसरी बात यह है कि हमारेमें वह अलौकिक शक्ति भी नहीं है जैसी कि वेदव्यासजी आदिमें थी। जिन्होंने संजयको दिव्य दृष्टि दी, जिससे उनकी इन्द्रियाँ और मन दिव्य हो गये; जिस प्रकार भगवान्‌ने अर्जुनको दी थी एवं १५ वर्ष बाद १८ अक्षौहिणी सेनाको भी उसी रूपमें प्रकट कर दिया। यदि हम भी ऐसे होते तो भगवान् हमको शक्ति दे करके संसारके कल्याणके लिये भेजते और हम अपनी शक्तिसे आपलोगोंको लाभ पहुँचा सकते। हमारा तो छोटे-बड़े सभीके लिये सम्मतिके रूपमें निवेदन है, यदि इसे आपलोग अपने काममें लें तो मैं आप सबका आभारी हूँ। आपकी हमारे ऊपर दया है

अब रहस्य यह बतलाना है कि यदि हम अधिकारी होते और सामर्थ्यवान् होते तथा उस अधिकारके अनुसार हम गुरु-शिष्यका सम्बन्ध करके लोगोंको शिक्षा या आदेश देते तो

यह नहीं कह सकते कि उसका क्या नतीजा होता, कुछ कहा नहीं जा सकता। किंतु यह बात तो है ही कि जो गुरुकी आज्ञाका पालन नहीं करता, उसका पतन हो जाता है। आपका और हमारा मित्रताका नाता है, इसलिये हमारी जो राय है, सम्मति है इसे आप काममें यदि नहीं लायें तो आप पापके भागी नहीं होंगे। यह बात तो हम जोरके साथ कह सकते हैं कि आपको इसमें पाप नहीं लगेगा और हम यदि गुरु होते और वह सम्बन्ध आपके साथ जोड़ते तथा आप हमारी आज्ञाका पालन नहीं करते तो आपका पतन होता और आज्ञाके पालन न करनेमें आपको कुछ भय भी होता। सम्भव है कि यदि वह हमारेमें शक्ति होती तो हमारी वह शक्ति बलपूर्वक आपलोगोंसे करवा भी लेती। जैसे राजाकी आज्ञा बलवान् होती है, राजाका हुक्म होता है और उसके अनुसार करना पड़ता है, उसमें हेर-फेर नहीं होता। यह तो उस वक्ताकी शक्तिपर निर्भर है कि कैसा वक्ता है, कैसी शक्ति है। किंतु यह बात साथ-साथमें है जैसे उसके साथमें लाभकी बात है ऐसे उसके साथमें अपने खतरेकी बात भी है। वह बात नहीं माननेसे खतरेकी बात है। यदि आपलोग हमारी बात काममें नहीं लायेंगे तो उस लाभसे वञ्चित रहेंगे, नया कोई नुकसान, नया कोई पाप नहीं लगेगा। आपको हम बाध्य नहीं कर सकते कि यह बात आपको काममें लानी पड़ेगी। आपकी मर्जी है, आप ला भी सकते हैं नहीं भी ला सकते हैं। लानेमें लाभ है और नहीं लानेमें कोई नुकसान नहीं। किंतु यदि इसको भी नुकसान मानें तो जरूर है, क्या? लाभसे वञ्चित रहना है। तो यह नुकसान तो जरूर है। आपसे कहा जाता है कि सत्य बोलना चाहिये और आप सत्य नहीं बोलेंगे तो सत्य बोलनेसे जो लाभ है, उससे तो वञ्चित ही रहेंगे। आपसे कहा जाय कि ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये और आप ब्रह्मचर्यका पालन नहीं करेंगे तो ब्रह्मचर्यके पालनसे जो लाभ होता है, वह कैसे मिलेगा। तो जो शास्त्रकी बात है उसके पालनसे हमको लाभ प्रत्यक्ष होता ही है। इसलिये हमलोगोंको परम शास्त्र गीताको जो—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

—साक्षात् भगवान्के मुखपद्मसे निःसृत है, उसे अच्छी प्रकारसे पढ़ना चाहिये। उसका गायन भी अच्छी प्रकारसे करना चाहिये और उसका मनन भी अच्छी प्रकारसे करना चाहिये। शेष और शास्त्रोंके विस्तारकी क्या आवश्यकता है। इसमें और शास्त्रोंकी अवहेलना नहीं की गयी है। शास्त्रोंको महत्ता ही दी गयी है और उनसे भी बढ़कर गीताको अधिक महत्ता दी गयी है। तो इससे यह बात निकलती है कि शास्त्रोंकी आवश्यकता तो है, 'गीता सुगीता कर्तव्या' गीताको अच्छी प्रकारसे पढ़े तो फिर शास्त्रकी आवश्यकता नहीं? नहीं, शास्त्र निरर्थक नहीं है, शास्त्र हैं दामी चीज। पर आत्माके उद्धारके लिये गीताका भी अभ्यास कर लें, और विशेष आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यह गीता स्वयं पद्मनाभ भगवान्के मुख-कमलसे निकली हुई है। पद्मनाभ यानी जिनकी नाभिके बीचमें कमल है ऐसे जो भगवान् विष्णु हैं उनकी नाभिसे कमल निकला हुआ है तो पद्मनाभ और मुख-पद्म इन दोनोंके बीचमें कमल शब्द आया है। गीता जो है वह भगवान्के मुखकमलसे निकली है और सारे शास्त्र जो हैं वे नाभि-कमलसे निकले हुए हैं। सारे शास्त्र कैसे निकले? सुनो—नाभिसे कमल पैदा हुआ, कमलसे ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई, ब्रह्माजीसे वेदोंका आविर्भाव हुआ, वेदोंके आधारसे इतिहास, पुराण, शास्त्र, दर्शनशास्त्र, उपनिषद्-श्रुतियाँ—ये सब जितने शास्त्र हैं इनका विस्तार हुआ। परंतु गीता तो भगवान्के ही मुखसे निकली, नाभिसे नहीं। वेदादि सीढ़ी-दर-सीढ़ी निकले हैं और गीता भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे उत्पन्न हुई है। अतः हम जो कुछ आपलोगोंकी सेवामें निवेदन करते हैं एक नम्बरमें तो अधिकांशतः गीताकी बात कहते हैं और दो नम्बरमें अन्य सब शास्त्रोंकी, दर्शनशास्त्र या उपनिषद् या रामायण अथवा महाभारत, भागवत आदि जितने अपने श्रुति-स्मृति, इतिहास और पुराण हैं उनकी। अतः जो भगवान्के वचन हैं, महापुरुषोंके वचन हैं उनको आपलोग काममें लायें तो आपलोगोंका कल्याण हो सकता है। ऐसा मेरा विश्वास है। और यदि मैं इसे काममें लाऊँगा तो मेरा कल्याण हो सकता है, इसमें कोई संदेहकी बात नहीं है। यह जो अपने लोगोंमें भगवच्चर्चा होती है, इस भगवच्चर्चा-रूप संगसे आपलोगोंको क्या लाभ होता है इसे तो आप ही समझ सकते हैं। मुझे तो लाभ होता है, यह बात प्रत्यक्ष ही समझमें आती है। मनुष्यको अपने आपका तो अनुभव रहता ही है।

'भगवान्की—राधिकाजीकी लीला देख रहा हूँ, मैं उसमें शामिल हूँ, भगवान्की रासक्रीडा जो है, उसमें मेरा प्रवेश है। उसके विषयमें तो मैं अपना अनुभव कह सकता हूँ'—ऐसा कहनेवाला जो है वह अपनेको एवं दुनियाको धोखा देनेवाला है, उसकी बातका कभी विश्वास नहीं करना। जब मैं ऐसा कहता हूँ कि मेरेको कभी ऐसी घटना भी प्राप्त हुई है या नहीं, तो भी मैं कुछ भी नहीं कहूँ। जिसका मैं खुद निषेध करूँ, दम्भी बतलाऊँ तो मैं क्या दम्भकी पंक्तिमें नहीं शामिल होऊँगा। जो कहता है कि मुझको अनुभव होता है, उसको मैं दम्भी समझता हूँ और नहीं कहनेवालोंमें कोई एक होता है।

एक श्रुति कहती है कि जो ऐसा कहता है कि मैंने ब्रह्मको समझ लिया वह नहीं समझा, जो कहता है कि मैंने ब्रह्मको नहीं समझा वह भी नहीं समझा। किंतु जो अपनेको ऐसा मानता है कि मैंने ब्रह्मको जान लिया, उसने कुछ भी नहीं जाना, वह तो बिलकुल गलत है। जो अपनेको 'नहीं' कहते हैं उन 'नहीं' कहनेवालोंमें कोई एक है—**'नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च। यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥'** (केन० २। १०)। इस प्रकारसे हमारे वेदोंमें, श्रुतियोंमें सबमें यह बात बतलायी गयी है। तो जो 'नहीं' कहता है, उसे कभी भगवान् प्रत्यक्ष हो जाते हैं। जो डींग मारता है कि 'मुझे भगवान् मिल गये—मैं भगवान्का प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ, वहाँ मेरा प्रवेश है'—वहाँ तो सभी मामला गड़बड़ है। वास्तवमें यह भगवत्प्राप्ति है ही नहीं। जो ऐसा कहता है, उसकी परीक्षाकर मैं यह कह सकता हूँ कि इसे भगवत्प्राप्ति नहीं हुई है, परंतु जिसे वास्तवमें परमात्माकी प्राप्ति हुई है, उसके विषयमें मैं कुछ नहीं कह सकता। यह बतलाना कठिन है, क्योंकि यह जो विशेषता है, वह स्वसंवेद्य है परसंवेद्य नहीं। इसे वह स्वयं ही जानता है, दूसरा कोई नहीं जान सकता। प्रायः संसारमें जो लोग हैं, वे दूसरोंपर अपना प्रभाव डालनेके लिये ऐसी बातें बोलते हैं, उसे मोहित करनेकी चेष्टा करते हैं, ऐसा पुरुष सच्चा नहीं है। (क्रमशः)

पीड़ित-सेव करूँ दिन-राती

(श्रीशीलव्रतजी शर्मा 'शील')

(१)

चाह नहीं कहिं राज मिले पद, चाह नहीं धन सम्पद ख्याती।
चाह नहीं सुख स्वर्ग मिले अरु चाह नहीं भव मुक्ति सुहाती॥
चाहत ना मन कामिनि कञ्चन, चाह न व्यञ्जन भाँतिय भाँती।
'शील' यही बस देय प्रभो वर, पीड़ित-सेव करूँ दिन-राती॥

(२)

पंथ बिपंथहु चक्र पड़ूँ नहिं, भेद न हो मन जातिय न्याती।
छूत अछूतन क्रूर घृणा तज, देह रहे मम नेह लगाती॥
शत्रु रहे नहिं छोर कहीं दिग, विश्व अखण्ड बने मम साथी।
'शील' यही बस देय प्रभो वर, पीड़ित-सेव करूँ दिन-राती॥

(३)

देख कभी पर-द्रव्य द्रवूँ नहिं, कान सुने नहिं स्वारथ बाती।
ज्योति जले परमारथकी उर, जीभ रहे प्रभु कीरत गाती॥
दुष्कृत देखि सचेत रहे मन, सुकृत सर्व बने मम नाती।
'शील' यही बस देय प्रभो वर, पीड़ित-सेव करूँ दिन-राती॥

(४)

नीर असीम बहे करुणा उर, दीनन देख पसीजत छाती।
देत रहूँ नित वंचितके हित, भाव बने यह जाग प्रभाती।
देश-हिते कर सर्व समर्पित, जीवन हो मम भारत-थाती।
'शील' यही बस देय प्रभो वर, पीड़ित-सेव करूँ दिन-राती॥

(५)

को नहिं छीजत देह क्षुधा लिय, को नहिं वस्त्र बिना ठिठुराती।
दैहिक दैविक भौतिक संकट, को नहिं काय रहे अकुलाती॥
स्रोत बहे सुख सर्व धरा जग, नाव चले भव मोद लुटाती।
'शील' यही बस देय प्रभो वर, पीड़ित-सेव करूँ दिन-राती।

निर्बलका बल

(पूज्यपाद अनन्तश्री ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

हर एक श्रेणीके प्राणीको श्रीभगवान्‌का स्मरण एवं आराधन हर समय करना आवश्यक है। यही कारण है कि भगवान्‌के मङ्गलमय परमपवित्र चरित्रादिके श्रवण-मननके अधिकारी ज्ञानी-अज्ञानी, सिद्ध-साधक सभी हैं और सभीको उनके अनुरूप फल भी मिलता है। फिर वे उसे चाहें अथवा न चाहें। यद्यपि जो महापुरुष स्ववर्णाश्रम-धर्मानुसार भगवान्‌की आराधनाद्वारा निर्मलान्तःकरण होकर वेदान्तोंके श्रवण-मनन-निदिध्यासन एवं तत्त्वसाक्षात्कारसे कृतार्थ हो चुके हैं, उन्हें किसीकी भी अपेक्षा नहीं होती, न उन्हें कुछ करनेसे प्रयोजन है, न उनका किसीसे कुछ अर्थ ही है, बल्कि यदि उन्हें कुछ कर्तव्यबुद्धि हो तो उनकी तत्त्वज्ञतामें भी संदेह किया जाता है—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

तथापि भगवान्‌के भजनमें उनकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति होती है। अतएव भगवान्‌के आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी—इन चार भक्तोंमें ज्ञानीको सर्वश्रेष्ठ भक्त कहा है—'**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।**' अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रगण निर्ग्रन्थ होकर भी भगवान्‌में निष्काम भक्ति करते हैं, क्योंकि भगवान्‌में कोई अद्भुत आत्मागमचित्ताकर्षक लोकोत्तर गुण हीं है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥

जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥

× × ×

आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥

इतना ही नहीं, विशेषतः ऐसे ही तृष्णारहित महामुनीन्द्र भगवान्‌के गुणगानके अधिकारी माने गये हैं, क्योंकि जिसका मन निरन्तर भगवत्स्वरूपामृत-रसास्वादनमें लगा रहता है, वही उस रसका वितरण कर सकता है। जिस समय राजर्षि परीक्षित्‌ने ब्रह्माके वत्सहरण-सम्बन्धमें कुछ पूछा, उस समय ब्रह्मर्षि शुकदेवका मन प्रश्नद्वारा हृदयमें अभिव्यक्त भगवान्‌के स्वरूप-गुण-लीला-रसमें लीन हो गया। फिर बड़ी कठिनाईसे जब घण्टा, शंख-निनाद आदिसे वे सावधान किये गये तब कथा चली—

इत्थं स्म पृष्टः स तु बादरायणिस्तत्स्मारितानन्तहृताखिलेन्द्रियः।
कृच्छ्रात्पुनर्लब्धबहिर्दृशिः शनैः प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तम॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ४४)

वस्तुतः जैसे पात्रमें भरपूर भरा हुआ रस वायुके आघात या उफानसे बहिर्भूत होता है, वैसे ही भावुकके हृदयमें अनुभूयमान भगवदीय रस प्रेमोद्रेकसे उद्‌गीर्ण होकर कथा-सुधारूपमें व्यक्त होता है। अतः वे ही चरित्र-वर्णनके मुख्य अधिकारी होते हैं—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥

(श्रीमद्भा० १०। १। ४)

अर्थात् भगवान्‌का गुणानुवाद तृष्णाविरहित योगीन्द्रों-द्वारा गाया जाता है और वह भवरोगका सर्वश्रेष्ठ महौषध है। साथ ही श्रोत्र और मनको आनन्द देनेवाला है अर्थात् विमुक्त, मुमुक्षु और विषयी सभी भगवच्चरित्रसेवनके अधिकारी होते हैं—

'सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥

अर्थात् भगवान्‌का चरित्र सुननेसे विमुक्तको भक्ति, मुमुक्षुको गति और विषयीको सम्पत्ति मिलती है। इसके साथ-ही-साथ श्रवण और मनको प्रसन्नता भी मिलती है—

बिषइन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥

पूर्णपरमात्मरति ब्रह्मनिष्ठका भगवद्भजन स्वाभाविक कर्म हो जाता है—'**अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः।**' अमानित्व, अदम्भित्व आदि गुणगण जैसे स्वभावसे ही ज्ञानीमें होते हैं, वैसे ही भगवद्भजन, भगवत्परायणता भी ज्ञानीमें स्वाभाविक होती है। इसके सिवा भगवत्कृपासे ही प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न परमात्मतत्त्वमें स्थिति होती है, अतः कृतघ्नता-निवृत्त्यर्थ भी ज्ञानी भगवान्‌को भजता है। सभी वेदान्ताचार्योंने कहा है—

यावज्जीवं त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः।
आदौ विद्याप्रसिद्ध्यर्थं कृतघ्नत्वापनुत्तये॥

अर्थात् ज्ञानीको यावज्जीवन वेदान्त, गुरु और ईश्वरकी वन्दना करते रहना चाहिये। प्रथम ब्रह्मविद्या-प्राप्तिके लिये इन सबका वन्दन करना चाहिये, पश्चात् कृतघ्नता दूर करनेके लिये। विवेकियोंने ज्ञानीके लिये अभेदभावसे ब्रह्मात्मनिष्ठा या भेदभावसे भगवद्भक्तिको समान ही कहा है। जैसे प्रेयसी प्रेमोद्रेकमें प्रियतमके वक्षःस्थलपर विहरण करे, अथवा सावधानीसे पादयुग्मकी परिचर्या करे, दोनों एक ही-से हैं। तथापि जैसे चित्त मिल जानेपर भी चतुर नायिका अपने प्रियतमको घूँघट-पटकी ओटसे ही देखती है, वैसे ही भेदभावके मिट जानेपर भी ज्ञानी भेदभावसे भगवान्को भजते हैं। पारमार्थिक तत्त्व जानकर, व्यावहारिक द्वैतको लेकर भगवान्की भक्ति मुक्तिसे भी अत्यन्त श्रेष्ठ है और भक्त्यर्थ भावित द्वैत अद्वैतसे भी श्रेष्ठ होता है।

यह स्थिति लोकसंग्रहनिरपेक्ष पूर्ण परमात्मनिष्ठ विज्ञानीकी है। परंतु लोकसंग्रही ज्ञानीको तो लौकिक, वैदिक, धार्मिक, नैतिक अनेक प्रकारके कर्म करने पड़ते हैं और उनमें अनेक प्रकारकी विषम परिस्थितियोंका भी अनुभव करना पड़ता है। अनेक प्रकारके तापोंका भी योग उपस्थित होता है, अतः उन लोकसंग्रहियोंको यह परम आवश्यक होता है कि वे विनश्वर विषम प्रपञ्चके भीतर सम अविनश्वर परमात्मतत्त्वका स्मरण रखें। लोक-कल्याणार्थ या आत्मकल्याणार्थ कार्यक्षेत्रमें अवतीर्ण होनेपर सहस्रों दोषोंके सञ्चारकी सम्भावना होती है, इसलिये उन सबसे बचकर अव्याहत स्वरूपनिष्ठा बनाये रखनेके लिये निरन्तर श्रीभगवान्की स्मृति परमावश्यक है।

तीसरी कोटिके मुमुक्षु लोग हैं। ये दो श्रेणीके हैं, एक तो मोक्षकी आकाङ्क्षासे श्रीहरिके चरणपङ्कजमें समर्पण-बुद्धिसे स्वधर्मानुष्ठान करनेवाले एवं दूसरे शुद्धान्तःकरण हो जानेपर तीव्र विविदिषासे श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेवाले। इन दोनों ही श्रेणीके पुरुषोंको निरन्तर भगवत्स्मृति परमावश्यक है। नैष्कर्म्य-तत्त्वज्ञान भी बिना श्रीहरि-प्रेमके शोभित नहीं होता, फिर कर्म चाहे निष्काम ही क्यों न हो, भगवच्चरणपङ्कजमें बिना समर्पण किये वह शोभित नहीं होता—

'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।'

सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जल जानू॥
सो सब कर्म धर्म जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥'

जो कर्म भगवत्समर्पणके लिये अनुष्ठित होंगे, उन कर्मोंकी शुद्धिपर ध्यान रहेगा, बुद्धिमान् भगवान्को अशुद्ध कर्मोंका समर्पण न करेंगे। अतः यदि **'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥'**, **'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा°'** इत्यादि भगवान् और भगवदीयोंके कथनानुसार सभी कर्मोंको भगवान्में समर्पण करनेका नियम बनाया जायगा, तो लौकिक-वैदिक सभी कर्मोंमें शुद्धि रहेगी और हर एक कर्मोंको करते समय भगवान्का स्मरण रखनेसे अन्तरात्माको त्रितापसे तप्त न होना पड़ेगा। भगवद्भक्ति, भगवत्स्मृतिकी महिमासे शीघ्र ही भगवान्का साक्षात्कार भी हो सकेगा—**'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।'** भगवत्प्रेमसे निर्मल एवं एकाग्र मनपर सहजहीमें परमात्मस्वरूपकी अभिव्यक्ति हो जाती है। प्रापञ्चिक व्यवहारमें आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक अनेक तापोंसे तप्त होना पड़ता है। परंतु जिनके हृदयमें भगवान्की पदनखमणिचन्द्रिकाकी आभा रहती है, उन्हें वे ताप उसी तरह नहीं तपा सकते, जैसे शारदी चान्द्रमसी ज्योत्स्नाके विकसित होनेपर सूर्य-ताप नहीं तपा सकता। जैसे साँपके विषसे परिश्रान्त होकर नकुल विश्रान्तिके लिये अरण्यमें जाकर विषघ्नी दिव्य महौषधियोंका सेवन करता है, वैसे ही संसार-विषसे व्याकुल होनेपर संसारियोंको भी सत्सङ्गमें जाकर भगवत्स्मृतिका सेवन करना चाहिये। कहा जाता है कि भगवान्का स्मरण-भजन और लौकिक कर्म दोनों साथ कैसे बन सकते हैं। परंतु भगवान् तो और कार्योंकी कौन कहे, सबसे विषम कर्म जो युद्ध है, उसको करते हुए भी भगवत्स्मृतिको आवश्यक बतलाते हैं। कृषि, व्यापार आदि सभी कर्मोंसे युद्ध कठिन है, उसमें अस्त्र-शस्त्रकी वर्षा होती है, उससे हर समय अपने मर्मोंको बचाना, परच्छिद्रान्वेषण करना, अस्त्र-शस्त्र चलाना, शस्त्र-अस्त्रोंके लगनेपर व्यथाओंको भी सहन करना पड़ता है। परंतु, भगवान्के मतसे उस समय भी परमात्मस्मरण रखना परमावश्यक है।

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।

चौथी कोटिके वे पुरुष हैं जो निष्काम नहीं हैं, किंतु आर्त और अर्थार्थी होकर आर्तिनिवृत्ति एवं अर्थ-प्राप्तिके लिये विविध प्रकारके लौकिक कर्मोंमें प्रयत्नशील होते हैं। उन्हें भी

अपने प्रयत्नोंकी सफलताके लिये भगवान्का स्मरण-भजन करते रहना चाहिये, केवल अपने साधन-बलके गर्वमें भगवान्को नहीं भूलना चाहिये। अतएव यद्यपि अर्जुन बौद्धबल, बाहुबल, सैनिकबल, धन-बल आदिमें सम्पन्न थे, तो भी उन्हें भगवत्स्मरणकी आवश्यकता बतलायी गयी है। वस्तुतः जितना भी साम्राज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, शौर्य, वीर्य, ऐश्वर्य, अभ्युदय है, वह सभी धर्म और ईश्वराराधनका ही फल है। दरिद्रता, परतन्त्रता, आधि, व्याधि, शोक, संताप आदि अनर्थ धर्मकी उपेक्षा और ईश्वरविमुख होनेका फल है। महा-महा शूरवीर एवं ऐश्वर्यवानोंके चरित्रोंपर ध्यान देनेसे विदित होगा कि उन्होंने धर्म और ईश्वरके सेवनसे उच्चतम स्थिति प्राप्त की है। अतएव सुख एवं तत्साधनोंकी न्यूनाधिकतासे उसके हेतुभूत पुण्यकी न्यूनाधिकताकी कल्पना होती है, दुःख और दुःखसाधनोंके तारतम्यसे उसके हेतु पापके तारतम्यकी कल्पना होती है। इस जन्ममें भी धर्म और भगवान्का आश्रयण करके जो अभीष्ट फलसिद्धिके लिये प्रयत्नशील होते हैं, उन्हें बड़ी सुगमतासे सफलता मिलती है—**'मामाश्रित्य यतन्ति ये।'**

पाँचवीं कोटिके वे पुरुष हैं जो आर्त एवं अर्थार्थी तो हैं, परंतु आर्ति-निवृत्ति एवं अर्थप्राप्तिके लिये उनके पास कोई साधन नहीं है, उनके लिये भी एक भगवान्हीका सहारा रह जाता है—***'निर्बलके बल राम', 'हारे को हरि-नाम।'*** जब सर्वसाधन-सम्पन्नोंको भी साधनबलका दर्प छोड़कर श्रीभगवान्का सहारा लेना पड़ता है, तब साधनहीन किसकी शरण जायँ? निर्बल, निराश्रय पुरुष किसी आश्रयका अन्वेषण करता ही है, गिरते हुए पुरुषके हाथ, पैर स्वभावसे ही किसी आश्रयको पकड़नेके लिये प्रवृत्त होते हैं। बालक विपन्न एवं उपद्रुत होकर माता-पिता एवं बन्धुकी ओर दौड़ता है, प्रजा राजाकी ओर दौड़ती है, निर्बल बलवान्की ओर दौड़ता है। परंतु जहाँ इन किन्हींका वश या सहारा नहीं है, वहाँ सिवा पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् सर्वान्तरात्माके और किसका सहारा हो सकता है? वस्तुतः परमज्ञानी भगवत्परायण और इस साधनशून्य अर्थार्थी या आर्तकी स्थिति समान ही है, उसके भी सब कुछ भगवान् ही हैं और इसके भी सब कुछ भगवान् ही हैं। निरालम्ब निःसाधन आर्त एवं अर्थार्थी बड़े प्रेम और विश्वाससे भगवान्को पुकारता है और भगवान् उसकी जल्दी ही सुनते भी हैं। प्रतिज्ञा भी उनकी यह है, एक बार भी जो प्रपन्न होता है, उसे मैं अभय देता हूँ—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं हि मे॥

हतभाग्य प्राणीको भगवान्के इस व्रतपर विश्वास नहीं होता, किंतु साधारण राजाओं और उनकी झूठी प्रतिज्ञाओंपर विश्वास होता है। आर्तकी आर्ति मिटाकर भगवान् उसे परम अभय देते हैं, कृतार्थ कर देते हैं। अर्थार्थीको भी अर्थप्रदानके बाद निष्काम, जिज्ञासु एवं ज्ञानी बनाकर तार देते हैं। विभीषण पहले अवश्य अर्थार्थी था। परंतु, अन्तमें तो पूर्ण परमार्थी हो गया। भगवान्का दर्शन करके उसने कहा था—

उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥
अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी॥

परंतु इन सब परिस्थितियोंसे भिन्न एक और भी छठी परिस्थिति उस प्राणीकी है जो कृतकृत्य भी नहीं, निष्काम और विरक्त भी नहीं, आर्त-अर्थार्थी होकर भी निराश्रय एवं साधनविहीन है और साथ ही भगवान्पर जिसे विश्वास भी नहीं है। परंतु यदि उसकी आन्तर भावना ऐसी हो कि भगवान्में हमारा विश्वास उत्पन्न हो और हम अपनी परिस्थितियोंको समझकर भगवान्को पुकारें कि 'हे नाथ! आप ही ऐसी कृपा करो, जिससे हम आपपर विश्वासकर आपको पुकारें और आपको न भूलें और मैं ब्रह्म (भगवान्) का निराकरण (उपेक्षण) न करूँ।'—**'माहं ब्रह्म निराकुर्याम्।'** वस्तुतः भगवान्की कृपासे ही प्राणी विश्वासपूर्वक भगवान्की शरण जाता है। श्रीअक्रूरजीने कहा है—'हे नाथ! आज मैं आपके श्रीचरणोंके शरण आया हूँ, यह भी आपकी कृपाका ही फल है। जब प्राणियोंकी सांसारिक विपत्तियाँ मिटनेको होती हैं, तभी सदुपासनासे आपके श्रीचरणोंमें उनकी प्रीति होती है—

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्ये।
पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात्॥

(श्रीमद्भा० १०।४०।२८)

सचमुच आज भारतकी यही अन्तिम दशा है। न वह कृतकृत्य है, न निष्काम एवं विरक्त। वह आर्त एवं अर्थार्थी होकर भी आश्रय एवं साधन-विहीन है। इतनेपर भी उसमें धर्म और भगवान्‌से विश्वास उठ चला है—

ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पिआइअ बारुनी कहहु काह उपचार॥

जहाँ अर्जुन-ऐसे साधनसम्पन्न योद्धाके लिये भी '**सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर**' का आदेश था, वहाँ सर्वसाधनशून्य-दशामें भी भगवान्‌का स्मरण नहीं होता, इससे अधिक इसकी शोचनीय दशा और क्या हो सकती है? अस्तु, उसके हितैषियों और उसको चाहिये कि वह भगवान्‌को पुकारें और प्रार्थना करें कि 'हे नाथ! हम सबको आपमें विश्वास और भक्ति दो, जिससे कि हम आपको पुकारें। हम सबको धर्मग्लानि-अधर्माभ्युत्थान मिटाकर परमकल्याण-मूलभूत धर्ममें प्रीति दो, जिससे सब तरहके अनर्थ मिटकर भारत फिर अभ्युदय एवं निःश्रेयसका भागी हो।'

═══ ★ ═══

सत्सङ्गके अमृत-कण

भगवान्‌की और महापुरुषोंकी दया अपार है, वह माननेसे ही समझमें आती है। ईश्वरसे कोई जगह खाली नहीं है और महात्माओंकी संसारमें कमी नहीं है। कमी है तो हमारे माननेकी, वे तो प्राप्त ही हैं। न माननेसे वे प्राप्त भी अप्राप्त हैं। घरमें पारस पड़ा है, परंतु न माननेसे वह भी अप्राप्त ही है। भगवान्‌की दया और प्रेम अपार हैं। उन्हें न माननेसे ही वे अप्राप्त हो रहे हैं, मान लिये जायँ तो प्राप्त ही हैं। किसी दयालु पुरुषसे कहा जाय कि आप हमारे ऊपर दया करें तो इसका मतलब यह होगा कि वह दयालु नहीं है, हमारे साथ क्रूरताका बर्ताव कर रहा है। इस प्रकार वह दयालु पुरुष समझता है कि यह बेचारा भोला है, नहीं तो मुझसे यह कैसे कहता कि दया करो। भगवान् और महापुरुष दोनोंके लक्षणोंमें यह बात आती है कि वे सबके मित्र और सुहृद् होते हैं—

हेतुरहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

'मैं सब भूतोंका सुहृद् हूँ—बस, केवल इतना जान भर लो।' जो इस बातको जान लेता है वह भी सब भूतोंमें ही तो है। अतः उसे भगवान् मेरे सुहृद् हैं, यह जानकर शान्ति मिल जाती है।

× × × ×

वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सदा-सर्वदा सब जगह प्रत्यक्ष मौजूद है, किंतु इस प्रकार प्रत्यक्ष होते हुए भी हमारे न माननेके कारण वह अप्राप्त है। सच्चिदानन्दघन परमात्माका कहीं कभी अभाव नहीं है। इस प्रकार न मानना ही अज्ञान है और इस अज्ञानको दूर करनेके लिये प्रयत्न करना ही परम पुरुषार्थ है। हमें इस अज्ञानको ही दूर करना है। इसके सिवा और किसी रूपमें हमें परमात्माकी प्राप्ति नहीं करनी है। परमात्मा तो नित्य प्राप्त ही है। उस प्राप्त हुए परमात्माकी ही प्राप्ति करनी है, अप्राप्तकी प्राप्ति नहीं करनी है। वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सदा-सर्वदा सबको प्राप्त है, यह दृढ़ निश्चय करना ही परमात्माको प्राप्त करना है। इस प्रकारका निश्चय हो जानेपर परमशान्ति और परमपदकी प्राप्ति सदाके लिये प्रत्यक्ष हो जाती है। यदि न हो, तो उसकी मान्यतामें कमी है।

इस प्रकारके तत्त्व-रहस्यको बतलानेवाले महात्मा भी संसारमें हैं। किंतु हैं लाखों-करोड़ोंमें कोई एक। जो हैं, उनका प्राप्त होना दुर्लभ है और प्राप्त होनेपर भी उनका पहचानना कठिन है। उनको जान लेनेपर तो परमानन्द और परमशान्तिकी प्राप्ति सदाके लिये हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो समझना चाहिये कि उसके माननेमें ही कमी है।

शरणागतिका स्वरूप

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके प्रवचनका एक अंश)

मैं आप लोगोंसे जो कुछ निवेदन करूँगा वह आपसकी बच्चोंकी-सी बातें हैं। ये कोई सिद्धान्तकी बातें नहीं हैं। इसलिये यदि इनमें कोई त्रुटि हो तो आप गुरजन उसे ठीक कर लें। रात ग्यारह बजे आग लगी और पीछेकी पंद्रह कुटियाँ एक साथ जल गयीं। उस समय हममेंसे कुछ लोगोंने कहा था कि 'अच्छा हुआ भीतर कोई आदमी नहीं रहा'। इससे यह स्पष्ट होता है कि आग लगना तो अच्छा नहीं हुआ, कोई मनुष्य नहीं जला यही अच्छा हुआ।

गीताका जो तात्पर्य है उसके अनुसार हमें इस घटनाके विषयमें विचार करना है। साधकोंके लिये दो ही दृष्टियाँ हैं—एक ज्ञानीकी और दूसरी भक्तकी। ज्ञानीकी दृष्टिमें तो एक आनन्दको छोड़कर दूसरी वस्तु है ही नहीं, अतः वह चाहे आगके रूपमें हो और चाहे किसी और रूपमें, है आनन्द ही। भक्तकी दृष्टिमें सब भगवान्की लीला ही है। भगवान्की लीलामें कभी अमङ्गल हो ही नहीं सकता, भले ही वह लीला हमें अच्छी न दीख पड़े, परंतु मङ्गलमयका कोई भी विधान अमङ्गलमय नहीं हो सकता। भक्तोंके भी कई दर्जे होते हैं। एक भक्त थे नामदेव। उनकी कुटीमें आग लगी। आधी कुटी जल जानेपर जब आग शान्त होने लगी तो वे बोले—'भगवन्! यह क्या ? आप आधे ही घरमें पधारे।' ऐसा कहकर वे कुटीका बचा हुआ सामान भी उसमें डालने लगे। यह ठीक है कि सब भक्तोंका ऐसा ही भाव नहीं हो सकता, पर अन्य भाव होनेमें भी कोई दोष नहीं है।

जनकजी परम ज्ञानी थे। याज्ञवल्क्यजी वेदान्तचर्चा किया करते थे। उनका प्रवचन सुननेके लिये बहुत-से लोग आते थे, परंतु ज़बतक जनकजी नहीं आते थे, तबतक वे कथा आरम्भ नहीं करते थे। इससे अन्य श्रोताओंको कुछ असंतोष रहने लगा और वे ऐसा समझने लगे कि जनकजीके प्रति उनका कुछ मोह है। याज्ञवल्क्यजी योगी भी थे। उन्होंने एक लीला की। उन्होंने अपने योगबलसे नगरमें आग लगा दी, जब लोगोंको मालूम हुआ तो उन्हें यह चिन्ता हुई कि हमारे पड़ोसमें तो आग नहीं आ गयी है और वे तरह-तरहके बहानेसे कथामेंसे उठकर जाने लगे। धीरे-धीरे वह कथामण्डप बिलकुल खाली हो गया, बस याज्ञवल्क्यजी कथा सुना रहे थे और जनकजी सुन रहे थे। इतनेहीमें एक आदमी आया और उसने कहा—'महाराज ! सारी मिथिलापुरी जल चुकी है और अब राजमहलोंमें भी आग लगनेवाली है।' इसी प्रकार एकके पीछे दूसरा और दूसरेके पीछे तीसरा कई आदमी सूचना देने आये, परंतु महाराज जनक सर्वथा निश्चलभावसे पूर्ववत् कथा-श्रवण करते रहे। याज्ञवल्क्यजीने कहा—'राजन्! महलमें आग लग गयी है।' जनकने कहा—'महल क्या, शरीर जल जाय तब भी मेरी क्या हानि है ? यह है ज्ञानीकी दृष्टि।'

अब तीसरी दृष्टि है कर्मकी। उस दृष्टिको लेकर यह विचार करना चाहिये कि आग लगी क्यों ? संसारमें जो कुछ होता है हमारे कर्मका फल है और यह सम्भव नहीं है कि कर्म पीछे हो और फल पहले मिले। प्रारब्धके तीन भेद हैं—परेच्छा, स्वेच्छा और अनिच्छा। किसी-किसी प्रारब्धका फल हमें किसीकी इच्छा न होनेपर भी भोगना पड़ता है। यदि इस प्रकार अनिच्छासे ही हमें अपने किसी कर्मका फल मिल गया तो अच्छा ही है, हमारा कर्म कट गया। किसी पापकर्मका कट जाना तो आनन्दकी ही बात है। इस प्रकार भक्ति, ज्ञान और कर्म तीनों ही दृष्टियोंसे इस आग लगनेकी घटनामें अमङ्गलकी सम्भावना नहीं है।

एक साधकने मुझसे कहा था—'हमारे कृष्ण जल गये।' कृष्ण कभी नहीं जलते। मैं निराकार परमात्मा या ब्रह्मकी बात नहीं कहता। भगवान्का साकार विग्रह भी कर्मवश उत्पन्न नहीं होता, वह तो चिन्मय है। भगवान् भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये अपनी इच्छासे ही साकार शरीर धारण करते हैं। वे देह धारण करते हुए भी देहहीन हैं, आँखोंवाले होकर भी नेत्रहीन हैं, हाथ-पाँववाले दिखायी देनेपर भी कर-चरणादिशून्य भगवान्के विषयमें ऐसी ही विपरीत बातें कही जाती हैं। गोसाईं तुलसीदासजी कहते हैं—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।
आननरहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।

सारे नेत्र उन्हींके नेत्र हैं, सारे हाथ उन्हींके हाथ हैं, सारे

चरण उन्हींके चरण हैं और सारे मुख उन्हींके मुख हैं। उनका देह दिव्य और चिन्मय होता है। इसलिये इसमें कोई अमङ्गलकी बात नहीं है।

इसके सिवा एक दूसरी बात है। इस आगके द्वारा भगवान्‌ने यह शिक्षा दी है कि साधकको इस प्रकार अपना सर्वस्व स्वाहा कर देना होगा।

भगवान् कहते हैं—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

भगवान्‌ने सभी धर्मोंको त्याग करके अपनी शरणमें आनेके लिये कहा है।

यदि हमने कुछ भी अपने लिये बचाकर रख लिया तो सर्वस्व समर्पण नहीं होगा। बंगलामें एक कहावत है—

जे करे आमारी आश। तार करि सर्वनाश।

जबतक सर्वनाश नहीं होता, तबतक भगवान् नहीं मिलते। इसके लिये तो तन, मन, धन सभी भगवान्‌पर निछावर कर देना होगा। जबतक ऐसा भाव रहेगा कि 'यह शरीर मेरा है' तबतक भगवान् नहीं मिलेंगे।

भगवान्‌ने कहा है—

'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।'

मन और बुद्धि भी भगवान्‌को ही सौंप दो। जो बुद्धि मायासे आवृत रहती है, वह भगवान्‌को नहीं जान सकती। यदि सर्वथा भगवान्‌पर ही अवलम्बित रहा जायगा तो वे स्वयं ही अपना ज्ञान दे देंगे। भगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

भगवान् कहते हैं—बुद्धियोग तो मैं दे दूँगा। तुम केवल इतना करो कि मन भगवान्‌में ही लगा रहे, प्राण भगवान्‌में ही रहें, ऐसा निश्चय करो कि हम निरन्तर भजन करते रहेंगे। भगवान् कैसे हैं? यह बात तो भगवान् स्वयं समझा देंगे।

भगवान्‌के स्वरूपके विषयमें अनेकों मत हैं और अपनी-अपनी दृष्टिसे वे सभी ठीक हैं। गीतापर महापुरुषोंके जितने भाष्य हैं, वे सब यथार्थ ही हैं। गीता एक ग्रन्थ है, उसमें जिसके लिये जो बात उपयुक्त हो उसे ही वह ले ले। सारे चश्मे चश्मे ही हैं, परंतु उनमें जो जिसकी आँखपर लग जाय उसके लिये वही उपयोगी है। इसी प्रकार अधिकारी-भेदसे शास्त्र भी भिन्न-भिन्न रूपसे सबके लिये उपयोगी है। मनुष्य जब कोई रंगीन चश्मा लगा लेता है तो उसे वह पदार्थ उसी रंगका दिखायी देने लगता है। जिस चश्मेमें कोई रंग नहीं होता, उसीसे वस्तुका यथार्थ रूप देखा जा सकता है। जीवकी दृष्टि संकुचित है, उससे वस्तुका यथार्थ ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है। इसलिये अपनी बुद्धिको अलग रखकर सब प्रकार केवल भगवान्‌पर ही अवलम्बन करना चाहिये। भगवत्कृपासे कोई भी बात दुःसाध्य नहीं है। भगवान् कहते हैं—

'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।'

बस, मेरा चिन्तन करते रहो, तर जाओगे। भगवान्‌की कृपामें जो बल है वह अन्य किसी भी साधनमें नहीं है। भगवान्‌का दर्शन होनेपर ध्रुव घबड़ा गया, वह यह नहीं समझ सका कि मैं किस प्रकार भगवान्‌की स्तुति करूँ? वह भक्त था, तपस्वी था, परंतु ज्ञानी नहीं था। भगवान् उसके भावको समझ गये। उन्होंने उसके कपोलसे अपने शङ्खका स्पर्श करा दिया। बस, उसका स्पर्श होते ही ध्रुवको ज्ञान हो गया। जो ज्ञान भगवान्‌की कृपासे हो उसमें क्या कमी रह सकती है? आत्मबल भी भगवान्‌का ही बल है, परंतु हम बहुत बार उसके नामपर शारीरिक बल और बुद्धिबलका ही आश्रय ले लेते हैं। अहंकार तो अनात्मा ही है, यह तो आसुरी प्रकृतिके पुरुषोंमें ही देखा जाता है—

'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।'

जो लोग आसुरी प्रकृतिके होते हैं, उन्हें ही अपने तुच्छ बलका अभिमान होता है, जिससे विमोहित होकर वे किसीको कुछ नहीं समझते और ऐसा मानते हैं कि—

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया॥

ये सब आसुरी बल हैं, इन्हें छोड़कर हमें उस बलका आश्रय लेना चाहिये जो भगवान्‌का बल है। उस बलके प्राप्त होनेपर न जाने क्या हो जाय?

जब जनकजीके यहाँ धनुषयज्ञमें आये हुए सब राजालोग

हार गये और रावण तथा वाणासुर-जैसे योद्धा भी उसे प्रणाम करके चले गये तो जनकजीको बड़ा खेद हुआ। उनके मुखसे सहसा निकल पड़ा ***'बीर बिहीन मही मैं जानी।'*** जनकजीकी यह बात लक्ष्मणजीको अच्छी नहीं लगी। भला, जहाँ उनके इष्टदेव रघुकुलभूषण भगवान् राम विद्यमान हों वहाँ ऐसी निराशापूर्ण बात वे कैसे सुन सकते थे? वे जनकजीकी उक्तिसे रोषमें भरकर बहुत-सी बातें कह गये—

जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं।

'सुमेरु पहाड़को मूलीकी तरह तोड़ दूँ, ब्रह्माण्डको कच्चे घड़ेकी भाँति फोड़ डालूँ, धनुषको कमलनालकी तरह चढ़ा दूँ इत्यादि।' परंतु फिर उन्होंने सोचा यह तू क्या कह रहा है? तुझे किसका बल है? तब वे विवेक-दृष्टिसे बोले—

'तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।'

हे नाथ! इस धनुषको मैं बरसाती छत्रकके डंठलकी तरह तोड़ सकता हूँ। किसका बल पाकर तोड़ सकते हो? ***'तव प्रताप बल'***—आपके प्रतापके भरोसे। जिस समय लक्ष्मणजीने कोपमें भरकर ***'तव प्रताप बल नाथ'*** ऐसा कहा—उस समय, ***'डगमगानि महि दिग्गज डोले।'*** पृथ्वी डगमगाने लगी और दिग्गज अपने स्थानोंसे विचलित हो गये; क्योंकि अब उन्होंने भगवान्‌के बलका आश्रय ले लिया था।

बहुत बार हमलोग अहंकार और मोहसे समझ लेते हैं कि हम यह कार्य कर लेंगे। परंतु यह हमारा मोह ही है, बिना भगवान्‌का बल प्राप्त किये हम कुछ भी नहीं कर सकते।

अर्जुनपर भगवान्‌का बड़ा स्नेह है। भगवान् कहते हैं—'मैं पुरुषोत्तम हूँ, पुरुष और प्रकृति— ये दोनों ही मेरी प्रकृति हैं।' ये दोनों ही भगवान्‌से अभिन्न हैं, परंतु अभिन्न होनेपर भी उनके कर्म भिन्न-भिन्न हैं। यह ज्ञान देकर वे पुरुषोत्तम कहते हैं—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥

(गीता १८। ६३)

'अर्जुन! मैंने तुझे यह गुह्यसे भी गुह्यतर ज्ञान बतला दिया, इसे अच्छी तरह विचारकर तुझे जो अच्छा लगे वह कर।' 'तुझे जो अच्छा लगे वह कर'— यह बात भगवान्‌ने गैर पुरुषोंकी-सी कह दी है। किंतु इसके पश्चात् वे पुनः कहते हैं—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

अर्थात् 'हे महाबाहो! मेरी एक बहुत अच्छी बात और सुन। तू मुझे अत्यन्त प्रिय है, इसलिये मैं तेरे हितकी बात कहता हूँ।' ऐसा कहकर भगवान् अपने ऊपर कहे हुए और आगे कहे जानेवाले शब्दोंमें अन्तर दिखलाते हैं। कोई भी भला आदमी अन्य पुरुषोंके सामने यह नहीं कहता कि 'मैं यह बहुत अच्छी बात कहता हूँ।' जहाँ अत्यन्त अन्तरङ्गता होती है वहाँ तो ऐसा नहीं कहा जाता। अर्जुनपर भगवान्‌का अत्यन्त स्नेह है। अर्जुनके लिये ही भगवान्‌ने खाण्डवदाह कराया। उसके पीछे जब उनके पास इन्द्र आये तो भगवान्‌ने उनसे यही माँगा कि अर्जुनके साथ मेरी सर्वदा मैत्री बनी रहे। जिस समय उत्तराके गर्भसे मरा हुआ बालक उत्पन्न हुआ, उस समय भगवान्‌ने यह शपथ करके कहा था कि 'यदि अर्जुनमें मेरी निष्कपट मैत्री रही हो तो यह बालक जी उठे।'

इस प्रकार अर्जुनके प्रति भगवान्‌के घनिष्ठ प्रेमके बहुत-से प्रमाण हैं। अतः यहाँ भी भगवान् उसे अपना अत्यन्त प्रेमी स्वीकार कर उसे **'सर्वधर्मान् परित्यज्य'** इत्यादि श्लोकसे सर्वधर्मपरित्यागपूर्वक शरणागतिका ही उपदेश करते हैं। इस श्लोकके बहुत-से अर्थ हैं और वे सभी ठीक हैं। यदि कहा जाय कि इसमें इन्द्रियके धर्मोंका त्याग बतलाया गया है तो अर्जुन फिर भी इन्द्रियोंसे उनके विषय ग्रहण करता ही था। यदि कहो कि सर्वकर्म-संन्यासकी बात कही गयी है तो अर्जुनने वैसा भी किया नहीं। यदि कहो कि यह बात अर्जुनके लिये नहीं कही गयी, अपितु उन्हें लक्ष्य करके अन्य सब मुमुक्षुओंके लिये कही गयी थी तो भगवान् स्वयं ही ऐसा क्यों कह रहे हैं कि मैं तेरे अत्यन्त हितकी बात कहता हूँ।

अतः ऐसा कहकर भगवान्‌ने शरणागतिकी ही बात कही है। इसमें सारे धर्मोंको त्यागकर केवल वही धर्म रहता है जो भगवान् कहें। भगवान् कहते हैं—'तू सारे धर्मोंका आश्रय छोड़कर मेरे ही शरण हो जा, फिर तेरे सारे पाप-पुण्योंकी जिम्मेवारी मेरे ऊपर है।' शरणागति होनेपर तो कोई भी पाप

रहता नहीं, क्योंकि तब तो सारी क्रियाएँ भगवान्‌के लिये ही की जाती हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

जो सारे काम भगवान्‌के लिये ही करता है, भगवान्‌के लिये ही भोजन करता है, भगवान्‌के लिये ही हवन करता है और भगवान्‌के लिये ही दान और तप करता है, इस प्रकार जिसकी सारी चेष्टाएँ भगवदर्थ ही होती हैं, उसे कोई पाप कैसे लग सकता है। जब हम अपना घर किसी दूसरे व्यक्तिको दान कर देते हैं, उसकी मरम्मतका भार भी उसीपर आ जाता है। भाव रहना चाहिये सर्वार्पणका, सर्वार्पणमें कोई शर्त न रहे। भगवान् हमें मोक्ष दे दें, स्वर्ग दे दें, अमुक वस्तु दे दें—ऐसा कहना बहुत कुछ अपने लिये रखकर कहना होता है। वहाँ सर्वसमर्पण नहीं है। ये अहंकारकी बातें हैं। जहाँतक अहंकार है, वहाँतक सर्वस्व समर्पण नहीं है। इसमें यह कहनेकी भी गुंजाइश नहीं है कि हमने अर्पण किया। तब तो हम भगवान्‌के हो जाते हैं, भगवान्‌में हो जाते हैं और वही हो जाते हैं। जिस प्रकार पतिव्रता पत्नीपर पतिका पूर्ण अधिकार रहता है—पतिका गोत्र ही उसका भी गोत्र हो जाता है, उसी प्रकार शरणागत भक्तपर भगवान्‌का पूर्ण अधिकार हो जाता है—भगवान्‌का गोत्र ही उसका गोत्र है। इसीसे वैष्णव धर्मकी दीक्षा लेनेपर साधक अच्युतगोत्री हो जाता है। शरणागत भक्तका सर्वस्व भगवान्‌का ही है, उसमें कम-से-कम चार बातें अवश्य होनी चाहिये—

१-कुछ भी न चाहे—न कोई इच्छा करे, मुक्तिकी भी नहीं।
२-भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें आनन्द माने।
३-भगवान्‌के किसी विधानमें विरोध न समझे।
४-निरन्तर भगवत्स्मरण रहे।

भगवान् ही सब कुछ करते हैं, परंतु हम उसकी जिम्मेवारी अपने ऊपर लिये रहते हैं। इसीलिये हमें अपने कर्तृत्वका अभिमान रहता है और हमें उसका फल भी भोगना पड़ता है। अतः हमें यह सोचनेका कोई हक नहीं है कि भगवान् ऐसा करें—वे ऐसा करते तो अच्छा होता। हमें वे जैसा करें उसीमें प्रसन्न रहना चाहिये। गीताका पर्यवसान प्रपत्तिमें ही है।

अर्जुन सदा श्रीकृष्णके साथ रहे, किंतु जब उन्होंने कहा **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'** तो भगवान्‌ने उसका सारा मोह नष्ट कर दिया। और जब अन्तमें अर्जुनने कहा कि **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत'** तो बस, गीता समाप्त हो गयी।

इस प्रकार हमें चाहिये कि यह जो आग लगी है, इससे भगवान्‌के प्रति सर्वस्व समर्पणका भाव जाग्रत् करें और उसमें जो चीजें जल गयी हैं, उनके लिये क्षोभ न करके उन्हें भगवान्‌को समर्पण हुई ही समझें। यदि हम मृत्युको निर्वाण मानें तो हमारा निर्वाण हो सकता है। इसी प्रकार यदि हम इसे भगवत्समर्पण मानेंगे तो यह सब भगवान्‌को ही समर्पण हो जायगा। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

अर्थात् 'जो पुरुष अन्तिम समयपर मेरा स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करके जाता है, वह मेरा चिन्तन करनेके कारण मेरे ही स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।' अतः हमें निश्चिन्त रहना चाहिये। भगवान्‌का स्मरण करते हुए जिस समय भी हमारी मृत्यु होगी हम भगवान्‌को ही प्राप्त होंगे।

जो सब भूतोंमें आत्माको देखता है और आत्माको सब भूतोंमें, वह किसीसे घृणा नहीं करता। जब मनुष्य यह जानता है कि समस्त भूत आत्मा ही हैं, और सबमें एकत्व देखता है फिर मोह और शोक कहाँ है?—उपनिषद्

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि विषय-कामनामें फँसा हुआ मन जब-जब परमात्माको छोड़कर अन्यत्र जाय तब-तब वहाँसे लौटाकर हृदयस्थित भगवान्‌में लगावे। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करनेसे साधकका चित्त थोड़े ही कालमें ईंधनरहित अग्निकी भाँति शान्त हो जाता है।—श्रीमद्भागवत

भक्तिकी महिमा

(आचार्य डॉ॰ श्रीत्रिनाथजी शर्मा, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰)

परमपदकी प्राप्तिके लिये प्रभुको छोड़कर अन्य सुगम मार्ग नहीं है। भगवती श्रुति कहती है—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

'भगवान्‌के तत्त्वको पूर्णतया जाने बिना भवसागरको पार करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है।'

जिस धर्मसे मानव-हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति भक्ति जगे वही धर्म श्रेष्ठ है। जीवात्मा अंश है एवं परमात्मा अंशी है। अंश अंशीसे पृथक् होकर दुःख-कष्टका अनुभव करता है। अंशीरूप परमात्मासे मिल जानेपर जीव कृतार्थ हो जाता है। नर नारायणके अंश हैं। नर नारायणमें जबतक न मिल जाय, तबतक उसे शान्ति न मिलेगी। ज्ञानी पुरुष ज्ञानसे अभेद सिद्ध करता है। वैष्णव संत प्रेमद्वारा अद्वैत सिद्ध करते हैं। प्रेमकी परिपूर्णता अद्वैतमें ही है। भक्त तथा भगवान् प्रेमसे एक होते हैं। गोपी और कृष्ण एक ही थे।

कर्म, भक्ति, ज्ञान—ये तीन मार्ग हैं। इनमें भक्तिमार्ग राजमार्ग है। इस मार्गपर चलनेसे सरलतासे प्रभु मिलते हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति॥

उपनिषद्‌में कहा है—जीव और ईश्वर साथ-साथ बैठे हुए हैं। फिर भी जीव ईश्वरको पहचानता नहीं है। हृदयमें कोई वासना न रहनेपर भक्तिसे आनन्द मिलता है। सभी वस्तुओंको प्रभुको अर्पण करना ही भक्ति है। भोग भक्तिका बाधक है। संयम तथा सदाचार भक्तिके साधक हैं। ज्ञान, वैराग्यसहित भक्तिसे ईश्वर-साक्षात्कार होता है। ज्ञानमार्गमें इन्द्रियोंका निरोध अपेक्षित है। भक्तिमार्गमें इन्द्रियोंको प्रभुके मार्गमें ले जाना होता है। प्रभुके ज्ञानसे ज्ञाता और ज्ञेय एक ही होता है। प्रेमरहित ज्ञानकी शोभा नहीं है। ज्ञानका अनुभव भक्तिसे होता है। भक्तोंको अमरावती अच्छी नहीं लगती, काञ्चनमय सुमेरु पर्वत अच्छा नहीं लगता, बल्कि प्रभुके चरणारविन्द-भक्तिसे जो अनुपम सुख उन्हें मिलता है, वह अन्यत्र विरल है। कहा है—

आभाति शक्रनगरी न गरीयसी मे
प्रीतिं च सिञ्चति न काञ्चनकाञ्चनाद्रिः।
जाने परं हरशरण्यमरण्यमेव
यत्र त्वदङ्घ्रिनलिनार्चननिर्वृतिः स्यात्॥

(स्तुतिकुसुमा॰ ९।७)

भक्तका उत्प्रेक्षापूर्ण कथन है कि हे प्रभो! अपने प्रेमी भक्तोंको संसार-दावानलसे बचानेके लिये आपने किस शीतल वस्तुसे भक्तिका निर्माण किया। या तो आपने अमृतसे पूर्ण चन्द्रकलाको निष्पीडित कर उसकी शीतलमयी अमृतधारासे भक्तिका निर्माण किया या अपने सिरपर स्थित गङ्गाकी निर्मल धारासे किया अथवा अपने हाथमें स्थित अमृत-कलशके सुधाधारासे निर्माण किया—

किं निर्मिता मुकुटचन्द्रकलां निपीड्य
किं वा शिरःशरणनिर्झरिणीजलेन।
किं वा करस्थकलशामृतसम्प्लवेन
भक्तिस्त्वया प्रणयिनां भवतापशान्त्यै॥

(स्तुतिकुसुमा॰ ९।९)

भक्तिके बिना प्रभुका अनुग्रह नहीं होता है। अनुग्रहके बिना भक्तिभाव नहीं होता है। प्रभुके अनुग्रह तथा भक्तियोगका बीज तथा अङ्कुरके समान आपसमें कार्य-कारण-भाव है, अतएव कहा गया है—

नानुग्रहस्तव विना त्वयि भक्तियोगं
नानुग्रहं तव विना त्वयि भक्तियोगः।
बीजप्ररोहवदसावनयोर्न कस्य
भूत्यै परस्परनिमित्तनिमित्तिभावः॥

(स्तुतिकुसुमा॰ ९।४३)

यह शरीर हाड़-मांस तथा रुधिरका पिण्ड है। संसार अनित्य है। स्त्री-पुत्रादि ममताको छोड़कर वैराग्यरसिक होकर प्रभुकी भक्तिमें सदा आसक्त रहना चाहिये। क्योंकि कहा गया है—

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।

पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥

परमेश्वरके प्रति परमानुरक्तिको भक्ति कहते हैं। जिसमें सुखोपलब्धि होती है, वह अपरा भक्ति है तथा जिसमें शान्ति होती है वह परा भक्ति है। भक्तिसिद्धान्तका सर्वस्व ईश्वर है। विषयभोग तथा आसक्तिका परित्याग करके निरन्तर भगवद्-भजनसे प्रभुके आनन्दरसात्मक स्वरूपका आविर्भाव होकर अन्तःकरणवृत्तिको भगवदाकार बना देता है और यही भक्ति है, रस है परमेश्वर। रसात्मिका वृत्ति है भक्ति।

नारदभक्तिदर्शनसे स्पष्ट होता है कि भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिका भेद नहीं होता। भगवान्‌की भक्तिमें सबकी समता कही गयी है। भक्तोंका यह विश्वास है कि भक्तिमें जो आनन्द है वह निर्वाणमें नहीं है।

भगवान् गीतामें कहते हैं कि यद्यपि मैं सबके लिये समान हूँ, तथापि जो मेरी विशेष श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक भक्ति करता है, मैं भी उसी प्रकार उसका कल्याण करता हूँ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।

भक्तिभावसे शरणागत होनेपर प्रभु रक्षा करते हैं और भक्ति प्राप्त होनेपर सर्वत्र प्रभुका दर्शन प्राप्त हो सकता है। अतएव भक्तिकी महिमामें कहा भी गया है—

भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे ।
चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥

इसका भाव यह है कि भक्ति या आसक्ति भगवान् शङ्करके चरणोंमें हो न कि धन-सम्पत्तिमें, व्यसन शास्त्रोंमें हो स्त्री आदिमें नहीं। इच्छा निर्मल यशकी हो, चिरकालतक व्यर्थ जीवित रहनेकी नहीं। महान् पुरुषोंमें प्रायः ऐसा ही देखा जाता है।

विवेक-वाटिका

मेरी यह त्रिगुणमयी दैवी माया बड़ी ही दुस्तर है। जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायासे तर जाते हैं।—भगवान् श्रीकृष्ण

जो त्रिलोकीके सम्पूर्ण वैभवके लिये भी आधे क्षणके लिये देवदुर्लभ भगवान्‌के चरणकमलोंके ध्यानको नहीं छोड़ता, वही मुख्य भक्त है।—श्रीमद्भागवत

जो मनुष्य स्त्री, पुत्र, धनादिमें आसक्त है, उसकी बुद्धि मोहजालमें फँसकर धर्मपथसे डिग जाती है। अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको उचित है कि वह हर तरहसे सर्वप्रथम काम-क्रोधके प्रबल वेगको रोके। ये काम-क्रोध कल्याणमार्गके सबसे बड़े डाकू हैं।—देवर्षि नारद

जो सब भूतप्राणियोंमें परमात्माको और परमात्मामें सब प्राणियोंको देखता है, वह समदर्शी और आत्मयज्ञ करनेवाला पुरुष स्वाराज्य (मोक्ष) को प्राप्त होता है।—मनु महाराज

भगवान्‌का आश्रय ही संसारासक्त लोगोंके लिये संसारचक्रका नाश करनेवाला है। इसीको विद्वान् लोग ब्रह्मनिर्वाण-सुख कहते हैं, अतएव तुम लोग अपने-अपने हृदयमें हृदीश्वर भगवान्‌का भजन करो।—भक्तराज प्रह्लाद

जो सर्वप्राणियोंके हितकारी हैं, किसीमें दोषारोपण नहीं करते, किसीसे डाह नहीं करते, इन्द्रियों और मनको वशमें रखते हैं, निःस्पृह हैं और शान्त हैं, वे ही उत्तम भक्त हैं।—बृहन्नारदीयपुराण

जिसको श्रीभगवान्‌की याद आते ही रोमाञ्च हो जाय, आनन्दके आँसू बहने लगें, शरीरका रंग बदल जाय और 'हे श्रीकृष्ण ! हे गोविन्द !! हे हरे !!!' मधुर स्वरसे इस प्रकार नामगान करता हुआ जो रात-दिन भगवान्‌में चित्त लगाये रखे, वही श्रेष्ठ भक्त है।—गर्गसंहिता

वास्तवमें यह सब तमाशा स्वप्नके सदृश है, इसमें कुछ भी सार नहीं है। तुम इस बातको बिना किसी शील-संकोचके ग्रहण कर लो कि संसारकी स्थिति निरन्तर परिवर्तनशील ही रहती है।—बुद्धदेव

सच्चा विरक्त उसीको कहना चाहिये जो मानके स्थानसे दूर रहता है। अपना नया सम्प्रदाय नहीं चलाता। जीविकाके लिये दीन होकर किसीकी खुशामद नहीं करता। स्त्रियोंके संगसे सदा दूर रहता है।—एकनाथ

साधकोंके प्रति—

[वर्णनातीतका वर्णन]

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[साधकको चाहिये कि वह एकान्तमें बैठकर शुद्ध वृत्तिसे इस लेखको पढ़े। केवल शब्दोंपर दृष्टि न रखकर अर्थ एवं तत्त्वकी तरफ दृष्टि रखते हुए पढ़े, पढ़कर विचार करे और विचार करके भीतरसे चुप हो जाय तो तत्त्वमें स्वतःसिद्ध स्थिरता जाग्रत् हो जायगी अर्थात् सहजावस्थाका अनुभव हो जायगा[१] और मनुष्यजीवन सफल हो जायगा।]

सत्-तत्त्व एक ही है। उस तत्त्वका वर्णन नहीं होता; क्योंकि वह मन (बुद्धि) और वाणीका विषय नहीं है—**'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** (तैत्तिरीय० २।९), ***'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥'*** (मानस १।३४१।७)। जहाँ वर्णन है, वहाँ तत्त्व नहीं है और जहाँ तत्त्व है, वहाँ वर्णन नहीं है। उस तत्त्वकी तरफ लक्ष्य नहीं है, इसलिये केवल उसका लक्ष्य करानेके लिये ही उसका वर्णन किया जाता है। परंतु जब उसका लक्ष्य न करके कोरा सीख लेते हैं, तब वर्णन-ही-वर्णन होता है, तत्त्व नहीं मिलता। उसका लक्ष्य रखकर वर्णन करनेसे वर्णन तो नहीं रहता, पर तत्त्व रह जाता है। तात्पर्य है कि उसका वर्णन करते-करते जब वाणी रुक जाती है, उसका चिन्तन करते-करते जब मन रुक जाता है, तब स्वतः वह तत्त्व रह जाता है और प्राप्त हो जाता है। वास्तवमें वह पहलेसे ही प्राप्त था, केवल अप्राप्तिका वहम मिट जाता है।

प्रकृतिजन्य कोई भी क्रिया, पदार्थ, वृत्ति, चिन्तन उस तत्त्वतक नहीं पहुँचता। प्रकृतिसे अतीत तत्त्वतक प्रकृतिजन्य पदार्थ कैसे पहुँच सकता है? अतः तत्त्वका वर्णन नहीं होता, प्रत्युत प्राप्ति होती है। उसकी प्राप्ति भी अप्राप्तिकी अपेक्षासे कही जाती है अर्थात् उसको अप्राप्त माना है, इसलिये उसकी प्राप्ति कही जाती है। वास्तवमें वह तत्त्व स्वतः सबको नित्य-निरन्तर प्राप्त है। अप्राप्तिकी तो मान्यतामात्र है। असत्को सत् माननेसे, अप्राप्तको प्राप्त माननेसे ही वह तत्त्व अप्राप्तकी तरह दीखने लग गया। असत्को जितनी सत्ता देंगे अर्थात् महत्त्व देंगे, उतनी ही उसकी सत्ता दीखेगी और वह तत्त्व अप्राप्त दीखेगा। अप्राप्त दीखनेपर भी वह नित्यप्राप्त है अर्थात् न दीखनेपर भी तत्त्वमें कभी किंचिन्मात्र भी फर्क नहीं पड़ता। यह सिद्धान्त है कि प्राप्ति उसीकी होती है, जो सदासे प्राप्त है और निवृत्ति उसीकी होती है, जिसकी सदासे निवृत्ति है। तात्पर्य है कि मिलेगा वही, जो मिला हुआ है और बिछुड़ेगा वही, जो बिछुड़ा हुआ है। नया कुछ भी मिलनेवाला और बिछुड़नेवाला नहीं है। नया मिलेगा तो वह ठहरेगा नहीं, बिछुड़ ही जायगा।

जितने भी भेद हैं, सब-के-सब प्रकृति (असत्)में ही हैं। तत्त्वमें किंचिन्मात्र भी कोई भेद नहीं है। जब प्राकृत पदार्थोंकी सत्ता मानते हुए उनको महत्त्व देते हुए उस तत्त्वका वर्णन करते हैं, तब वह तत्त्व केवल बुद्धिका विषय हो जाता है और उसमें भेद दीखने लग जाता है[२]। सभी भेद सापेक्ष होते हैं। अपेक्षा छोड़ें तो कोई भेद नहीं रहता, एक निरपेक्ष तत्त्व रह जाता है। जैसे, दिनकी अपेक्षा रात है और रातकी अपेक्षा दिन है, पर सूर्यमें न दिन है, न रात है अर्थात् वहाँ नित्यप्रकाश है। समुद्रकी अपेक्षा तरंग है और तरंगकी अपेक्षा समुद्र है, पर जल-तत्त्वमें न समुद्र है, न तरंग है[३]। ऐसे ही गुणोंकी अपेक्षासे उस तत्त्वको सगुण-निर्गुण और आकारकी

१-उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा। कनिष्ठा शास्त्रचिन्ता च तीर्थयात्राऽधमाऽधमा॥

२-शास्त्रोंमें तत्त्वका जो वर्णन आता है, वह हमारी दृष्टिसे है। हमने असत्की सत्ता मान रखी है, इसलिये शास्त्र हमारी दृष्टिके अनुसार हमारी भाषामें असत्की निवृत्ति और सत्-तत्त्वका वर्णन करते हैं। यही कारण है कि दृष्टिभेदसे दर्शन अनेक हैं। अनेक दर्शन होते हुए भी तत्त्व एक है। जबतक द्रष्टा, ज्ञाता, दार्शनिक और दर्शन हैं, तबतक तत्त्वके वर्णनमें भेद है। जबतक भेद है, तबतक तत्त्व नहीं है, क्योंकि तत्त्वमें भेद नहीं है। दूसरे शब्दोंमें, जबतक अहम् (जड़-चेतनकी ग्रन्थि) है, तबतक भेद है। अहम्के मिटनेपर कोई भेद नहीं रहता, केवल एक तत्त्व ('है') रह जाता है।

३- ईश्वर और जीवके विषयमें दो तरहका वर्णन है—पहला, ईश्वर समुद्र है और मैं उसकी तरंग हूँ अर्थात् तरंग समुद्रकी है; और दूसरा, मेरा स्वरूप समुद्र है और ईश्वर उसकी तरंग है अर्थात् समुद्र तरंगका है। इन दोनोंमें तरंग समुद्रकी है—यह कहना तो ठीक दीखता है, पर समुद्र

अपेक्षासे उस तत्त्वको साकार-निराकार कहते हैं। वास्तवमें तत्त्व न सगुण है, न निर्गुण है; न साकार है, न निराकार है।

वह एक ही तत्त्व प्रकाश्यकी अपेक्षासे 'प्रकाशक', आश्रितकी अपेक्षासे 'आश्रय' और आधेयकी अपेक्षासे 'आधार' कहा जाता है। प्रकाश्य, आश्रित और आधेय तो व्याप्य, विनाशी एवं अनेक हैं, पर प्रकाशक, आश्रय और आधार व्यापक, अविनाशी एवं एक है। प्रकाश्य, आश्रित और आधेय तो नहीं रहेंगे, पर प्रकाशक, आश्रय और आधार रह जायगा; किंतु प्रकाशक, आश्रय और आधार ये नाम नहीं रहेंगे, प्रत्युत एक तत्त्व रहेगा। तात्पर्य है कि तत्त्व न प्रकाश्य है, न प्रकाशक है; न आश्रित है, न आश्रय है; न आधेय है, न आधार है।

वह एक ही तत्त्व शरीरके सम्बन्धसे शरीरी, क्षेत्रके सम्बन्धसे क्षेत्री तथा क्षेत्रज्ञ, क्षरके सम्बन्धसे अक्षर, दृश्यके सम्बन्धसे द्रष्टा और साक्ष्यके सम्बन्धसे साक्षी कहलाता है। तात्पर्य है कि तत्त्व न शरीर है, न शरीरी है, न क्षेत्र है, न क्षेत्री तथा क्षेत्रज्ञ है; न क्षर है, न अक्षर है; न दृश्य है, न द्रष्टा है; न साक्ष्य है, न साक्षी है।

वह तत्त्व अनेककी अपेक्षासे एक है। जड़की अपेक्षासे वह चेतन है। असत्‌की अपेक्षासे वह सत् है। अभावकी अपेक्षासे वह भावरूप है। अनित्यकी अपेक्षासे वह नित्य है। उत्पन्न वस्तुकी अपेक्षासे वह अनुत्पन्न है। नाशवान्‌की अपेक्षासे वह अविनाशी है। असत्-जड़-दुःखरूप संसारकी अपेक्षासे वह सत्-चित्-आनन्दरूप है। प्राकृत पदार्थोंकी अपेक्षासे वह प्राप्त अथवा अप्राप्त है। कठिनताकी अपेक्षासे उसको सुगम कहते हैं, नहीं तो जो नित्यप्राप्त है, उसमें क्या कठिनता और क्या सुगमता? तात्पर्य है कि तत्त्व न अनेक है, न एक है; न जड़ है, न चेतन है; न असत् है, न सत् है; न अभावरूप है, न भावरूप है; न अनित्य है, न नित्य है; न उत्पन्न है, न अनुत्पन्न है; न नाशवान् है, न अविनाशी है; न असत्-जड़-दुःखरूप है, न सत्-चित्-आनन्दरूप है; न प्राप्त है, न अप्राप्त है; न कठिन है, न सुगम है अर्थात् शब्दोंके द्वारा उस तत्त्वका वर्णन नहीं होता।

वह तत्त्व परतःसिद्धकी अपेक्षासे स्वतःसिद्ध है। अस्वाभाविककी अपेक्षासे वह स्वाभाविक है। अस्वाभाविकतामें स्वाभाविकका आरोप कर लिया तो 'बन्धन' हो गया, स्वाभाविकमें अस्वाभाविकताका आरोप कर लिया तो 'संसार' हो गया और अस्वाभाविकताको अस्वीकार करके स्वाभाविकका अनुभव किया तो 'तत्त्व' हो गया और अतत्त्वसे मुक्ति हो गयी अर्थात् है ज्यों हो गया! तत्त्व न परतःसिद्ध है, न स्वतःसिद्ध है, न स्वाभाविक है, न अस्वाभाविक है। परतःसिद्ध-स्वतःसिद्ध, स्वाभाविक-अस्वाभाविक तो सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है।

उस तत्त्वको 'है' कहते हैं। वास्तवमें वह 'नहीं' की अपेक्षासे 'है' नहीं है, प्रत्युत निरपेक्ष है। अगर हम 'नहीं'की सत्ता मानें तो फिर उसको 'नहीं' कहना बनता ही नहीं; क्योंकि 'नहीं' और सत्तामें परस्परविरोध है अर्थात् जो 'नहीं' है, उसकी सत्ता कैसे और जिसकी सत्ता है, वह 'नहीं' कैसे? वास्तवमें 'नहीं' की सत्ता ही नहीं है। परंतु जब भूलसे 'नहीं' की सत्ता मान लेते हैं, तब उस भूलको मिटानेके लिये 'यह नहीं है, तत्त्व है' ऐसा कहते हैं। जब 'नहीं' की सत्ता ही नहीं है, तब तत्त्वको 'है' कहना भी बनता नहीं। तात्पर्य है कि 'नहीं'की अपेक्षासे ही तत्त्वको 'है' कहते हैं। वास्तवमें तत्त्व न 'नहीं' है और न 'है' है। गीतामें आया है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

'जो ज्ञेय है, उस तत्त्वका मैं अच्छी तरहसे वर्णन करूँगा, जिसको जानकर मनुष्य अमरताका अनुभव कर लेता है। वह तत्त्व अनादि और परब्रह्म है। उसको न सत् कहा जा सकता

तरंगका है—यह कहना ठीक नहीं दीखता; क्योंकि समुद्र अपेक्षाकृत नित्य है और तरंग अनित्य (क्षणभंगुर) है। अतः तरंग समुद्रकी होती है, समुद्र तरंगका नहीं होता। अगर अपनेको समुद्र और ईश्वरको तरंग मानें तो इस मान्यतासे अनर्थ होगा; क्योंकि ऐसा माननेसे अभिमान पैदा हो जायगा तथा अहम् (चिज्जडग्रन्थि अर्थात् बन्धन) तो नित्य रहेगा और ईश्वर अनित्य हो जायगा! कारण कि जीवमें अनादिकालसे अहम् (व्यक्तित्व)का अभ्यास पड़ा हुआ है। अतः जहाँ स्वरूपको अहम् कहेंगे वहाँ वही अहम् आयेगा, जो अनादिकालसे है। उस अहम्‌के मिटनेसे ही तत्त्वकी प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त दोनों बातोंके सिवा तीसरी एक विलक्षण बात है कि जल-तत्त्वमें न समुद्र है, न तरंग है अर्थात् वहाँ समुद्र और तरंगका भेद नहीं है। समुद्र और तरंग तो सापेक्ष हैं, पर जल-तत्त्व निरपेक्ष है।

है और न असत् कहा जा सकता है।'[१]

तात्पर्य है कि उस तत्त्वका आदि (आरम्भ) नहीं है। जो सदासे है, उसका आदि कैसे? सब अपर हैं, वह पर है। वह न सत् है, न असत् है। आदि-अनादि, पर-अपर और सत्-असत्‌का भेद प्रकृतिके सम्बन्धसे है। वह तत्त्व तो आदि-अनादि, पर-अपर और सत्-असत्‌से विलक्षण है। इस प्रकार भगवान्‌ने ज्ञेय-तत्त्वका जो वर्णन किया है, वह वास्तवमें वर्णन नहीं है, प्रत्युत लक्षक (लक्ष्यकी तरफ दृष्टि करानेवाला) है। इसका तात्पर्य ज्ञेय-तत्त्वका लक्ष्य करानेमें है, कोरा वर्णन करनेमें नहीं।

संतोंकी वाणीमें भी आया है कि न जाग्रत् है, न स्वप्न है; न सुषुप्ति है, न तुरीय है; न बन्धन है, न मोक्ष है आदि-आदि। कारण कि ये सब तो सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है। निरपेक्ष भी वास्तवमें सापेक्षकी अपेक्षासे है। तत्त्व भी वास्तवमें अतत्त्वकी अपेक्षासे कहा जाता है; अतः उसको किस नामसे कहें? उसका कोई नाम नहीं है अर्थात् वहाँ शब्दकी गति नहीं है। शब्दसे केवल उसका लक्ष्य होता है[२]।

तत्त्व न प्रत्यक्ष है, न अप्रत्यक्ष है; न परोक्ष है, न अपरोक्ष है; न छोटा है, न बड़ा है; न अंदर है, न बाहर है; न ऊपर है, न नीचे है; न नजदीक है, न दूर है; न भेद है, न अभेद है, न भेदाभेद है; न भिन्न है, न अभिन्न है, न भिन्नाभिन्न है। कारण कि ये सब तो सापेक्ष हैं, पर तत्त्व निरपेक्ष है। जैसे सूर्यमें न प्रकाश है, न अँधेरा है और न प्रकाश-अँधेरा दोनों हैं। कारण कि जहाँ प्रकाश है, वहाँ अँधेरा नहीं होता और जहाँ अँधेरा है, वहाँ प्रकाश नहीं होता, फिर प्रकाश-अँधेरा दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं? ऐसे ही तत्त्वमें न ज्ञान है, न अज्ञान है और न ज्ञान-अज्ञान दोनों हैं। वहाँ न ज्ञाता है, न ज्ञान है, न ज्ञेय है; न प्रकाशक है, न प्रकाश है, न प्रकाश्य है; न द्रष्टा है, न दर्शन है, न दृश्य है; न ध्याता है, न ध्यान है, न ध्येय है। तात्पर्य है कि तत्त्वमें त्रिपुटीका सर्वथा अभाव है। कारण कि त्रिपुटी सापेक्ष है, पर तत्त्व निरपेक्ष है। वास्तवमें जहाँ स्थित होकर हम बोलते हैं, सुनते हैं, विचार करते हैं, वहीं सापेक्ष और निरपेक्षकी बात आती है; तत्त्व वास्तवमें न सापेक्ष है, न निरपेक्ष है।

वह तत्त्व वास्तवमें अनुभवरूप है। उसको गीताने 'स्मृति' कहा है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (१८।७३)। स्मृति भी विस्मृतिकी अपेक्षासे है; परंतु तत्त्वकी स्मृति विस्मृतिकी अपेक्षासे नहीं है, प्रत्युत अनुभवरूप है। कारण कि स्मृतिकी तो विस्मृति हो सकती है, पर अनुभवका अननुभव (विस्मृति) नहीं हो सकता। तत्त्वकी विस्मृति नहीं होती, प्रत्युत विमुखता होती है। तात्पर्य है कि पहले ज्ञान था, फिर उसकी विस्मृति हो गयी—इस तरह तत्त्वकी विस्मृति नहीं होती[३]। अगर ऐसी विस्मृति मानें तो स्मृति होनेके बाद फिर विस्मृति हो जायगी! इसलिये गीतामें आया है—**'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्'** (४।३५) अर्थात् उसको जान लेनेके बाद फिर मोह नहीं होता। अभावरूप असत्‌को भावरूप मानकर महत्त्व देनेसे तत्त्वकी तरफसे वृत्ति हट गयी—इसीको विस्मृति कहते हैं। वृत्तिका हटना और वृत्तिका लगना—यह भी साधककी दृष्टिसे है, तत्त्वकी दृष्टिसे नहीं। तत्त्वकी तरफसे वृत्ति हटनेपर अथवा विमुखता होनेपर भी तत्त्व ज्यों-का-त्यों ही है। अभावरूप असत्‌को अभावरूप ही मान लें तो भावरूप तत्त्व स्वतः ज्यों-का-त्यों रह जायगा।

१-गीतामें परमात्माका तीन प्रकारसे वर्णन आता है—(१) परमात्मा सत् भी है और असत् भी है—'सदसच्चाहम्' (९।१९), (२) परमात्मा सत् भी है, असत् भी है और सत्-असत्‌से पर भी है—'सदसत्तत्परं यत्' (११।३७), (३) परमात्मा न सत् है और न असत् है—'न सत्तन्नासदुच्यते' (१३।१२)। इसका तात्पर्य यही है कि वास्तवमें परमात्माका वर्णन नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह मन, बुद्धि और शब्दसे अतीत है।

२-यदि कहनेवाला अनुभवी और सुननेवाला सच्चा जिज्ञासु हो तो शब्दके द्वारा शब्दातीत, इन्द्रियातीत तत्त्वका भी ज्ञान हो जाता है—यह शब्दकी विलक्षण, अचिन्त्य शक्तिका प्रभाव है। परंतु ऐसा होना तभी सम्भव है, जब केवल शब्दोंपर दृष्टि न रखकर तत्त्वकी तरफ दृष्टि रखी जाय। अगर तत्त्वकी तरफ दृष्टि नहीं रहेगी तो सीखनामात्र होगा अर्थात् कोरा वर्णन होगा, तत्त्व नहीं मिलेगा।

३-ज्ञान होनेपर नयापन कुछ नहीं दीखता अर्थात् पहले अज्ञान था, अब ज्ञान हो गया—ऐसा नहीं दीखता। ज्ञान होनेपर ऐसा अनुभव होता है कि ज्ञान तो सदासे ही था, केवल उधर मेरी दृष्टि नहीं थी। यदि पहले अज्ञान था, अब ज्ञान हो गया—ऐसा मानें तो ज्ञानमें सादिपना आ जायगा, जबकि ज्ञान सादि नहीं है, अनादि है। जो सादि होता है, वह सान्त होता है और जो अनादि होता है, वह अनन्त होता है।

भागवतीय प्रवचन—३९

मन ही बन्धन और मोक्षका कारण है

(श्रीकृष्णपादलीन संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराज)

भगवान् कपिलने अपनी माता देवहूतिको अध्यात्म-योगका उपदेश देते हुए कहा—'माताजी ! इस जीवके बन्धन और मोक्षका कारण मन ही माना गया है। विषयोंपर आसक्त होनेपर वह बन्धनका हेतु होता है और परमात्मामें अनुरक्त होनेपर वही मन मोक्षका कारण बन जाता है।

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम्।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये॥

(श्रीमद्भा० ३।२५।१५)

भगवान् मनुष्यका शरीर या घर नहीं देखते, बल्कि हृदय देखते हैं। मन विशाल हो तो भगवान् आते हैं। मनमें छिपी हुई अहंता-ममता, अपने-परायेकी भावना ही मनको दुःखी बनाती है। मनके ये सारे धर्म आत्मस्वरूपमें भासमान होनेके कारण आत्मा स्वयंको सुखी-दुःखी मानती है। परंतु वास्तवमें वह आनन्दरूप है।

मनके सुधरनेपर सब कुछ सुधरता है और मनके बिगड़नेपर सब कुछ बिगड़ता है। सुख-दुःखके दाता हैं अहंमन्यता और ममता। उन्हें छोड़ देनेपर ही आनन्दरूप मिलता है।

पाप करनेके लिये किसीको प्रेरणा देनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, किंतु पुण्य करनेके लिये प्रेरणा देनी पड़ती है, क्योंकि मन अधोगामी है।

मनुष्यका मन पानीकी भाँति गड्ढेकी ओर ही बहता है। जलकी तरह मन भी अधोगामी है। जलकी भाँति मनका स्वभाव भी ऊपर नहीं, नीचेकी ओर जानेका है। इस मनको ऊपर चढ़ाना है। इसे परमात्माके चरणोंतक ले जाना है। जैसे पानी यन्त्रके संयोगसे ऊपर चढ़ता है, उसी प्रकार मन्त्रके संयोगसे मन ऊपर चढ़ता है। मनको मन्त्रका संग दो। मन्त्रका संग होगा तो मन अधोगामी न बनकर ऊर्ध्वगामी बनेगा। जिसने अपने मनको सुधारा है, वह दूसरोंको भी सुधार सकेगा। मनको सुधारनेका और कोई साधन नहीं है। मन शब्दके अक्षरोंको उलट दोगे तो शब्द बनेगा नम। 'नम' और 'नाम' ही मनको सुधारेंगे।

मनको स्थिर करनेके लिये नाम-जपकी आवश्यकता है। जपसे मनकी मलिनता और चञ्चलता दूर होती है। अतः किसी भी मन्त्रका जप करो। सांसारिक विषयोंके संगसे बिगड़ा हुआ मन ईश्वरका ध्यान करनेसे सुधरता है। भगवान्का निर्गुण स्वरूप सूक्ष्म होनेके कारण दिखायी नहीं देता और भगवान्का जो तेजोमय सगुण स्वरूप है, वह भी नहीं दीखता। इस कारणसे साधारण जीवोंके लिये तो भगवान्का नामस्वरूप, मन्त्रस्वरूप ही इष्ट है। भगवान् स्वयंको चाहे छिपा लें, किंतु अपने नामको छिपा नहीं सकते। नामस्वरूप प्रकट है, अतः परमात्माके किसी भी नामस्वरूपका दृढ़ मनसे आश्रय ले लो।

भगवद्ध्यानपूर्वक तप एवं नाम-मन्त्र-जप करनेसे मनकी शुद्धि होती है। लौकिक वासनासे मन बिगड़ता है और अलौकिक वासनाके जागनेपर वह सुधरता है। वासनाका नाश वासनासे ही करना पड़ता है। असद्-वासनाका विनाश सद्-वासनासे होगा।

जब मनुष्य सोचेगा कि मुझे जन्म-मरणके चक्रसे मुक्त होना है, मुझे गोलोकधाममें जाना है, मुझे किसी माताके गर्भमें नहीं जाना है, मुझे इसी जन्ममें परमात्माके दर्शन करने हैं, तब ऐसी भावना रखनेसे मन सुधरेगा। जैसे काँटा काँटेसे निकलता है, उसी प्रकार वासना ही वासनाको निकाल बाहर करती है। चलचित्र देखनेकी वासना दूर करनी है तो परीक्षामें पहला नम्बर आनेकी वासना रखो। ऐसी वासनासे अध्ययनमें रुचि पैदा होगी और अध्ययनकी रुचिसे चलचित्र देखनेकी वासना छूट जायगी।

किसी राजाके पास एक बकरा था। राजाने एक बार घोषणा की कि इस बकरेको जंगलमें चराकर जो उसे तृप्त करके लायेगा उसे मैं आधा राज्य दूँगा। किंतु बकरेका पेट पूरा भरा है या नहीं इसकी परीक्षा मैं स्वयं करूँगा।

इस घोषणाको सुनकर एक मनुष्यने राजाके पास आकर कहा कि बकरा चराना कोई बड़ी बात नहीं है। वह बकरेको लेकर जंगलमें गया। वहाँ सारा दिन उसने कोमल हरी-हरी घास बकरेको खिलायी। सायंकाल होनेपर उसने सोचा कि

अब तो बकरेका पेट भर गया होगा, क्योंकि सारा दिन उसे चराता फिरता रहा हूँ। बकरेके साथ वह राजाके पास आया। राजाने थोड़ी-सी हरी-हरी घास बकरेके आगे रखी। लोभवश बकरा उसे खाने लगा। इसपर राजाने उस मनुष्यसे कहा कि तुमने इसे पेटभर खिलाया ही नहीं है अन्यथा यह घास क्यों खाने लग जाता!

इसी प्रकार बहुतोंने बकरेका पेट भरनेका प्रयत्न किया, परंतु ज्यों ही दरबारमें उसके सामने घास डाली जाती तो वह खाने लग जाता।

एक सत्संगीने सोचा कि राजाकी इस घोषणामें कोई रहस्य है, कोई तत्त्व है। मैं युक्तिसे काम लूँगा। वह बकरेको चरानेके लिये ले गया। जब भी बकरा घास खाने जाता तो वह उसे लकड़ीसे मार देता। सारे दिनमें कई बार ऐसा हुआ। अन्तमें बकरेने सोचा कि यदि मैं घास खानेका प्रयत्न करूँगा तो मार खानी पड़ेगी। इस डरसे उसने घास खाना छोड़ दिया।

शामको वह सत्संगी बकरेको लेकर राजदरबारमें लौटा। बकरेको घास बिलकुल नहीं खिलायी गयी थी, फिर भी उसने राजासे कहा कि मैंने इसे भरपेट खिलाया है, अब यह घास बिलकुल नहीं खायेगा। कर लीजिये परीक्षा।

राजाने बकरेके सामने घास डाली, लेकिन बकरेने खानेकी तो बात ही क्या, उसे देखा और सूँघातक नहीं। बकरेके मनमें यह बात बैठ गयी थी कि घास खाऊँगा तो मार पड़ेगी। अतः उसने घास नहीं खायी।

यह बकरा हमारा मन ही है। बकरेको घास चरानेके लिये ले जानेवाला जीवात्मा है। राजा परमात्मा है। मनको मारो। मनपर अंकुश रखो। मन सुधरेगा तो जीवन सुधरेगा। मनको विवेकरूपी लकड़ीसे प्रतिदिन पीटो। जीव भोगसे तृप्त नहीं हो सकता। तृप्ति त्यागमें ही समायी हुई है। अहंता और ममतासे मन भरा हुआ है। मन जब कुछ माँगे तब उसे विवेकरूपी लकड़ीसे मारो, वह वशमें हो जायगा।

स्वामी रामदासने मनको बोध दिया है। दृढ़ वैराग्य, तीव्र भक्ति और यम-नियमादिके अभ्याससे चित्त वशमें होता है तथा स्थिर होता है और अन्तमें धीरे-धीरे प्रकृति भी अदृश्य होती जाती है। संसारसे वैराग्य उत्पन्न करनेका एक ही उपाय है—

'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।'

इस जगत्‌में सुखी होनेके दो ही मार्ग हैं—एक ज्ञानमार्ग और दूसरा भक्तिमार्ग।

ज्ञानमार्ग कहता है कि सब कुछ छोड़कर परमात्माके पीछे पड़ो। बिना वैराग्यके ज्ञान नहीं मिलता। ज्ञानमार्गमें वैराग्य मुख्य है। इससे सब कुछ छोड़ देना पड़ता है। ज्ञानी सब कुछ छोड़कर एक भगवान्‌को ही पकड़े रहता है। इस मार्गमें त्याग मुख्य है। इस मार्गके आचार्य शिवजी हैं। सर्वस्वका त्याग करना बड़ा कठिन काम है।

भक्तिमार्ग कहता है कि सर्वस्वका त्याग कठिन है। इसकी अपेक्षा तो बेहतर है कि 'सभीमें ईश्वर है' ऐसा मानकर सभीसे विवेकपूर्ण प्रेम करो। इस मार्गमें भगवद्भाव रखकर समर्पण करना है। भक्तिमार्गमें कुछ भी छोड़नेकी बात नहीं है।

भक्तिमार्गमें समर्पण मुख्य है। इस मार्गके आचार्य श्रीकृष्ण हैं। भगवान् श्रीकृष्ण हर किसीपर प्रेम रखते हैं। इस मार्गमें हर किसीके साथ प्रेम करना होता है। भगवान्-जैसा प्रेमी न तो कोई हुआ है और न कोई होगा।

एक बार भृगु ऋषि वैकुण्ठमें गये। भगवान् सो रहे थे। लक्ष्मीजी चरण-सेवा कर रही थीं। भृगुको लगा कि यह तो कोई विलासी लगता है, उसे बड़ा देव कौन कहे! ऋषि तो परीक्षा करने ही आये थे, अतः उन्होंने सोये हुए भगवान्‌की छातीपर लात मार दी।

भृगु ऋषिने लात मारी, किंतु उस लात मारनेवालेसे भी कन्हैया तो प्रेम ही करता है। भगवान्‌ने ऋषिसे कहा—'मेरी छाती तो बड़ी कठोर है और आपके चरण कोमल हैं। शायद आपके चरणोंमें चोट आयी होगी' इतना कहकर भगवान् ऋषिके चरण दबाने लगे। है कोई जगत्‌में ऐसा प्रेम करनेवाला दूसरा।

विष देनेवालेसे भी कन्हैया प्यार करता है। लक्ष्मीजीको बुरा लगा। वे बोलीं—ऐसी भी कहीं परीक्षा हो सकती है! परीक्षा करनेका यह ढंग अच्छा नहीं है। मैं ब्राह्मणोंके घर नहीं जाऊँगी। लक्ष्मीने ब्राह्मणोंको त्याग दिया।

ज्ञानी मानते हैं कि जबसे यह शारीरिक सम्बन्ध हुआ है, तबसे इसीसे दुःख हुआ है। अतः वे शरीरसे प्रेम नहीं करते।

प्रेम करना ही है तो सबसे प्रेम करो। किसीसे प्रेम नहीं करना हो तो कोई बात नहीं, किंतु अपने शरीरसे तो प्रेम करो

ही नहीं। एक परमात्मासे प्रेम करो, सभीसे प्रेम करो अथवा सभीका त्याग करो। यदि तुम सभीका त्याग नहीं कर सकते हो तो सभीमें ईश्वरभाव रखकर सभीसे प्रेम करो। सभीमेंसे ममताका त्याग करो अथवा सब कुछ ईश्वरको समर्पित करके सभी कर्मफलोंका त्याग करो।

सभीके प्रति ममता-मेरापन होना ही समर्पणमार्ग है। अमुकके प्रति ही ममताका होना स्वार्थमार्ग है। आज तो सभी स्वार्थमार्गी हैं।

पैसो मारो परमेश्वरने पत्नी मारी गुरु।
छैयां-छोकरां मारां शालिग्राम, पूजा कोनी करूँ ?

अर्थात् धन-सम्पत्ति मेरा परमेश्वर है, मेरी पत्नी मेरी गुरु है और मेरी संतान मेरे शालिग्राम हैं। अब मैं पूजा करूँगी भी तो किसकी !

जो संसारमें जाग्रत् नहीं होता वह कभी कन्हैयाको पा नहीं सकता। कंस काम और अभिमान है। वही सभीको कारागृहमें रखता है।

जाग्रत् कौन है ? जो मनसे विषयसुखका त्याग करके भगवान्‌के नामका जप करे वही जाग्रत् है।

जगत्‌में कौन जाग्रत् हुआ है ? तुलसीदासजी कहते हैं—

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥

जब सभी विषय-विलासोंके प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाय, तब मानो कि वह जीव जागा है। कपिल कहते हैं—माताजी ! यह मन अनादिकालसे संसारमें भटकता आया है। सत्संगसे मन सुधरता है। वासनाका त्याग करनेसे मन सुधरता है। विवेकी पुरुष संग अथवा आसक्तिको आत्माका बंधन मानते हैं। किंतु संत-महात्माओंके प्रति जब आसक्ति या संग हो जाय तब मोक्षके द्वार खुल जाते हैं। अतः सत्संग करो।

सत्संगमें भगवान्‌की लीला-कथाओंका गान होता है। उसके श्रवण-मनन-चिन्तनसे भक्तिद्वारा लौकिक एवं पारलौकिक सुखोंमें वैराग्य उत्पन्न होता है, मनोनिग्रह हो जाता है। इस प्रकार शब्दादि विषयोंका त्याग करनेसे, वैराग्ययुक्त ज्ञानसे, योगसे और मेरे प्रति की हुई सुदृढ़ भक्तिसे मनुष्य मुझ अपने अन्तरात्माको इस देहमें ही प्राप्त कर लेता है—

असेवयायं प्रकृतेर्गुणानां
ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन।
योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या
मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे॥

(श्रीमद्भा० ३। २५। २७)

दैवी सम्पदा या संतोंके गुण

(श्रीशुकदेवबिहारीजी मीणा, एम्० ए०)

सज्जन या संतके गुणोंको सद्‌गुण कहा जाता है। सद्‌गुण सत्संग या संतोंकी कृपासे ही प्राप्त होते हैं। इसीलिये शास्त्रोंमें सत्संगको भगवान्‌के मिलनेसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। संत यदि चाहें तो भगवान्‌को शीघ्र प्राप्त करा सकते हैं। संतोंकी कृपासे सभी प्रकारकी सिद्धियाँ, गति, मुक्ति आदि निम्न प्राणियोंको भी सहजमें ही प्राप्त हो जाती हैं—

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥

(रा० च० मा० १। ३। ४—६)

इसीलिये इतिहास-पुराणोंमें राजर्षि अम्बरीष आदि महापुरुषोंके आख्यानों तथा सभी गीताओं, उपनिषदों एवं रामायणोंमें भी सत्संगतिकी अपार महिमा गायी गयी है। तत्त्वतः संत और परमात्मा एक ही हैं*।

---

* रामचरितमानसके सर्वथा प्रारम्भमें, अरण्यकाण्डके अन्तमें नारद-राम-संवादमें, सुन्दरकाण्डके विभीषण-हनुमान्-संवादमें, उत्तरकाण्डमें भरत-राम-संवाद एवं काकभुशुण्डि-गरुड-संवादमें बार-बार संतोंके गुणोंका उल्लेख हुआ है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी स्थितप्रज्ञके लक्षण अध्याय २, श्लोक ५५ से ७२, अध्याय ९ तथा १२ में भक्तोंके लक्षण, अध्याय १३ में ज्ञानीके ज्ञानके रूपमें, अध्याय १४ में गुणातीत पुरुषके लक्षण और अध्याय १५ में दैवी सम्पत्तिके नामसे संतोंके गुणोंको ही निर्दिष्ट किया गया है। कल्याणकामीको इन सभीको तुलनात्मक-दृष्टिसे ध्यानसे पढ़कर धारण करने तथा इनके विपरीतके दुर्गुणों, आसुरी सम्पत्तियों एवं मानस-रोगोंको निकाल बाहर करनेका सर्वाधिक प्रयत्न करना चाहिये।

श्रेष्ठ महापुरुषों, संतों एवं राजनीतिज्ञोंमें सद्‌गुण पूर्णरूपसे व्याप्त रहते हैं। जो निरन्तर अति दैन्य-भावसे आत्मानुसंधान-पूर्वक दोष-दृष्टिसे इन्हें निकालनेका प्रयत्न करते हैं, वे ही इन्हें देख पाते हैं—

मानस रोग कछुक मैं गाए। हहिं सब कें लखि बिरलेन्ह पाए॥
जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी॥

(रा० च० मा० ७। १२२। २-३)

यहाँ संक्षेपमें गीतोक्त दैवी सम्पत्तिकी चर्चा कर तुलनात्मकरूपसे कुछ रामचरितमानसकी चौपाइयाँ भी दी जायँगी। पाठकोंको पूर्वोक्त सभी महत्त्वपूर्ण स्थलोंको ध्यानसे देखना चाहिये। गीताके सोलहवें अध्यायमें कहा गया है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥

(१६। १)

अर्थात् पुण्य-बलसे और भगवान्‌के आश्रयसे निर्भय रहना 'अभय' गुण कहलाता है। सभी दोषों, पापोंसे मनको मुक्त रखना सत्त्वकी 'शुद्धि' कही जाती है। योगदर्शनके यम, नियम, भगवद्ध्यान आदि ही ज्ञानयोगकी व्यवस्थिति हैं। सम-विभाजन और दीन-दुखियोंकी यथासम्भव की जानेवाली सहायता 'दान' कहलाती है। काम, क्रोध, मोह और लोभसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंको विषयोंसे सर्वथा दूर रखना ही 'दम' है। भगवत्पूजा एवं अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण ही 'यज्ञ' है। सद्‌ग्रन्थोंका अध्ययन एवं भगवन्नाम आदिका जप ही 'स्वाध्याय' है। योग और विविध व्रतोंका अनुष्ठान ही 'तप' है। निश्छल-भावसे सबकी सेवा करना ही 'आर्जव' है। इसके अतिरिक्त—

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥

(१६। २)

मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसीको भी कष्ट न पहुँचाना 'अहिंसा' है। मधुर, हितकारी और सच्ची बात कहना ही 'सत्य' है। किसी भी परिस्थितिमें, आवेशमें आकर किसीपर भी क्रुद्ध या कुपित न होना 'अक्रोध' है। कर्मोंमें कर्तापनके अभिमान एवं फलेच्छाका न होना ही 'त्याग' है। सदा भगवान्‌में मन लगाकर मनको चञ्चल न होने देना ही 'शान्ति' है। कभी किसीकी भी निन्दा न करना 'अपैशुन' है। इस लोक और परलोकके प्राणियोंके दुःखोंको सभी प्रकारसे दूर करनेका भाव ही 'दया' है। परधन, परस्त्री आदिकी ओर मनकी चञ्चलता-रूप प्रवृत्तिका न होना ही 'अलोलुपता'का गुण कहा गया है। विनय एवं नम्रताका ही नाम 'मार्दव' है। शील-संकोच एवं लज्जा आदिके भावको ही 'ह्री' कहा गया है। भगवच्चिन्तनसे अलग होकर मनका संसारमें एवं उसके विषयोंकी ओर न जाना ही 'अचपलता' है। श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम तेज है, जिसके प्रभावसे उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ एवं सात्त्विक कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त कर्मठता एवं समयोचित आवश्यक कल्याणकारी बात कहना भी 'तेज' ही है। अपराधीके अपराधोंको भूल जाना 'क्षमा' है। दुःखमें भी स्थिर रहना 'धृति' है। स्नान तथा शुद्ध वस्त्र आदिसे शरीरको एवं मार्जनादिद्वारा गृहको पवित्र रखना 'शौच' है। किसीके अपराधोंको भूलकर वैर-भाव न रखना ही 'अद्रोह' है

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।

(१६। ३)

इसी प्रकार कल्याणकामी व्यक्तिको अभिमान आदि दुर्गुणोंसे सर्वथा मुक्त रहना चाहिये। ये ही दैवी सम्पत्तियोंके गुण हैं। इनसे मनुष्यको गति, मुक्ति एवं शान्तिकी प्राप्ति होती है।

इसके विपरीत नास्तिकता, अहंकार, काम, क्रोध आदि विनाशकारी दोष आसुरी सम्पदाके अन्तर्गत हैं। उनका कुफल जन्म-जन्मान्तरतक नरकोंकी प्राप्ति तथा भगवान् एवं संतोंसे सर्वथा दूर रहना होता है। यह सभी गीता एवं अन्य शास्त्रोंमें यथास्थान निर्दिष्ट है। यही भाव रामचरितमानसके नारद-राम-संवादमें भी सुस्पष्ट है। भगवान् नारदजीसे कहते हैं—हे मुने! सुनो, मैं संतोंके उन गुणोंको कहता हूँ। जिनके कारण मैं उनके वशमें रहता हूँ—

सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उन्ह कें बस रहऊँ॥
षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्यसार कबि कोबिद जोगी॥
सावधान मानद मदहीना। धीर धर्म गति परम प्रबीना॥

गुनागार संसार दुख रहित बिगत संदेह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह॥
(रा० च० मा० ३।४५।६—९)

अर्थात् वे संत काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन षड्विकारों (दोषों)को जीते हुए, पापरहित, कामनारहित, निश्चल (स्थिरबुद्धि), अकिंचन (सर्वत्यागी), बाहर-भीतरसे पवित्र, सुखके धाम, असीम, ज्ञानवान्, इच्छारहित, मिताहारी, सत्यनिष्ठ, कवि, विद्वान्, योगी, सावधान, दूसरोंको मान देनेवाले, अभिमानरहित, धैर्यवान्, धर्मके ज्ञान एवं आचरणमें अत्यन्त निपुण, गुणागार होते हैं तथा संसारके दुःखोंसे रहित, संदेहोंसे सर्वथा मुक्त होते हैं। मेरे चरणकमलोंको छोड़कर उन्हें न तो अपनी देह प्रिय होती है और न ही अपना घर। इसके अतिरिक्त वे-—

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु गोबिंद बिप्र पद प्रेमा॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
(रा० च० मा० ३।४६।१—४)

अपने कानोंसे अपने गुण सुननेमें सकुचाते हैं, दूसरोंके गुण सुननेसे विशेष हर्षित होते हैं। वे सम और शीतल स्वभाववाले होते हैं, न्यायका कभी परित्याग नहीं करते। वे सरल स्वभावसे युक्त होते हैं और सभीसे प्रेम करना उनका स्वभाव होता है। वे जप, तप, व्रत, दम, संयम और नियममें रत रहते हैं और गुरु, गोविन्द तथा ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रेम रखते हैं। उनमें श्रद्धा, क्षमा, मैत्री, दया, मुदिता रहती है और उनका मेरे चरणोंमें निष्कपट प्रेम होता है। श्रीभगवान् आगे कहते हैं—

बिरति बिबेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ बेद पुराना॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला॥
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥
(रा० च० मा० ३।४६।५—८)

अर्थात् उन सद्गुणसम्पन्न संतोंको वैराग्य, विवेक, विनय, विज्ञान और वेद-पुराणका यथार्थ ज्ञान रहता है। वे दम्भ, अभिमान और मद कभी नहीं करते और भूलकर भी कुमार्गपर पैर नहीं रखते। ऐसे सद्गुणसम्पन्न जन सदा मेरी लीलाओंको सुनते हैं और बिना कारण ही दूसरोंके हितमें लगे रहते हैं। हे मुने! सुनो, संतोंके जितने गुण हैं, उनको सरस्वती तथा वेद भी कह नहीं सकते।

इसी प्रकार आसुरी-सम्पत्तिवाले व्यक्तियोंके दोष भी विश्वके लिये विनाशकारी होते हैं। वे संतोंके ठीक विपरीत स्वभाववाले होते हैं। अतः उपर्युक्त सभी स्थलोंके मनोयोग-पूर्वक तुलनात्मक अध्ययनद्वारा सद्गुणोंका संग्रह एवं दुर्गुणोंके सर्वविध परित्यागका दृढ़ प्रयत्न करना चाहिये।

सर्वोपरि निधि

(पं० श्रीवृन्दावनविहारीजी मिश्र 'बिन्दु', भागवताचार्य)

विश्व सब वारौं भूमि भारतके कण-कण पै,
भारत सब वारौं बरसाने-वृज खोरी पै।
वृजके परिहासन पै स्वर्गके विलास वारौं,
इन्द्र-पद वारौं 'बिन्दु' माखन कमोरी पै॥
वृन्दारक-वृन्द वारौं, एक व्रजवासी पै,
औ, व्रजवासी वारौं व्रज-गोपिनकी पौरी पै।
वृज-गोपी वारौं श्रीकृष्ण मनमोहन पै औ,
कृष्ण हू कौं वारौं वृषभानुकी किशोरी पै॥

चिन्तन—

जीवनकी सार्थकता और आधुनिक मूल्य

(आचार्य श्रीतुलसीजी)

जीवन एक प्रवाह है। वह रुकता नहीं है, बहता रहता है। जो बहता है, वही प्रवाह होता है। जिसमें ठहराव है, गतिहीनता है, वह प्रवाह नहीं हो सकता। प्रवाह स्वच्छताका प्रतीक है, जबकि ठहरावमें गंदगीकी सम्भावना बनी रहती है। प्रवाहमें जीवनी-शक्ति है, जबकि ठहरावमें अस्तित्वका लोप सम्भव है। ऐसी स्थितिमें प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवनको आगे ले जाना चाहेगा। सवाल एक ही है कि जीवन कैसा हो? भारतीय आस्थाके अनुसार जीवनका स्वरूप यह है—

शान्तं तुष्टं पवित्रं च सानन्दमिति तत्त्वतः।
जीवनं जीवनं प्राहुर्भारतीयसुसंस्कृतौ ॥

भारतीय संस्कृतिमें उस जीवनको प्रशस्त जीवन माना गया है, जो शान्त हो, संतुष्ट हो, पवित्र हो और सानन्द हो। शान्ति, संतुष्टि, पवित्रता और आनन्द जीवनकी महान् उपलब्धियाँ हैं। इनका सम्बन्ध बाह्य पदार्थोंसे नहीं, व्यक्तिकी अपनी वृत्तियोंसे है। पदार्थोंका ढेर लग जाय तो भी वहाँ शान्तिका जन्म नहीं हो सकता। संतोषकी प्राप्ति भी पदार्थसे नहीं हो सकती। संसारकी सम्पूर्ण सुख-सुविधाएँ कदमोंमें आकर बिछ जायँ, फिर भी तोषका अनुभव नहीं होता। लाभ लोभको बढ़ाता है, यह तीर्थंकरोंकी वाणी है। तीर्थंकरोंकी वाणी अनुभूत सत्यसे पूरित होती है। उसमें किसी प्रकारके संदेहका अवकाश नहीं रहता।

तीसरा तत्त्व है पवित्रता। उसका पदार्थके साथ कोई रिश्ता ही नहीं है। पदार्थके साथ जितना गहरा अनुबन्ध होता है, पवित्रतापर उतना ही सघन आवरण आ जाता है। पवित्रता नहीं है तो आनन्द कहाँसे आयेगा? आनन्दका निवास तो चित्तकी पवित्रतामें ही होता है। ऐसी स्थितिमें सार्थक जीवन जीनेकी आकाङ्क्षा अधिक दूभर हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचनका अर्थ यह नहीं है कि पदार्थवादी युगमें कोई व्यक्ति सार्थक जीवन जी ही नहीं सकता। मेरे अभिमतसे असम्भव कुछ नहीं है। फिर भी मंजिलके अनुरूप रास्तेकी खोज बहुत आवश्यक है। सार्थक जीवन जीनेके भी कुछ उपाय हैं। उसी आस्थाके परिप्रेक्ष्यमें वे उपाय हैं—

संयमाज्जायते शान्तिस्तोषहेतुः स्वतन्त्रता।
हेतुशुद्ध्या पवित्रत्वं स्वस्थ आनन्दमर्हति ॥

शान्तिका उत्स संयम है। जो लोग संयमसे जीते हैं, वे विशिष्ट शान्तिका अनुभव करते हैं। स्वतन्त्रतासे संतोषकी प्राप्ति होती है। सोनेके पिंजरेमें कैद पंछीको कितने ही मेवे-मिष्टान्न मिल जायँ, वह कभी संतुष्ट नहीं हो सकता। परतन्त्रता चाहे बाहरकी हो या भीतरकी, वहाँ आत्मतोष नहीं मिल सकता। जीवनमें पवित्रता तबतक नहीं उतर सकती, जबतक साधन-शुद्धि न हो। धतूरेके बीजसे आमका वृक्ष नहीं उग सकता। इसी प्रकार अशुद्ध साधनसे शुद्ध साध्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। आनन्दका अनुभव उस व्यक्तिको होता है, जो स्वस्थ रहता है। स्वस्थ कौन? **'स्वस्मिन् तिष्ठति इति स्वस्थः'** जो अपने-आपमें स्थित रहता है, पूरी तरहसे आत्मस्थ है, जिसकी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हैं, जो बाहर नहीं भटकता, वह स्वस्थ होता है।

इसी प्रकारका जीवन भारतीय संस्कृतिका जीवन है। ऐसा जीवन कोई भी जी सकता है, बशर्ते कि वह इतना उदात्त जीवन जीना चाहे। जिसका जीवन प्रारम्भसे ही कुण्ठा और निराशाका शिकार हो, वह प्राप्त अवसरका भी लाभ नहीं उठा सकता। जिस व्यक्तिका चिन्तन प्रवाहपाती होता है, जो यह सोचता है कि सब लोग असंयमकी दिशामें बह रहे हैं, मैं अकेला ही संयमके रास्तेपर क्यों चलूँ? वह कोई ऊँचा काम नहीं कर सकता।

जो व्यक्ति अपने जीवनमें कभी निराश नहीं होता, कठिन-से-कठिन परिस्थितिको भी जो हँसता-हँसता पार कर लेता है, जिसकी गतिमें कभी अवरोध नहीं आता, जो अपने पुरुषार्थपर भरोसा रखता है, उसका प्रयोग करना जानता है और समयपर उचित प्रयोग करता भी है, वह जीवनको अर्थवान् बना लेता है। जीवनकी सार्थकता और व्यर्थता उसकी शैलीपर निर्भर है। जिस जीवन-शैलीमें संयम और सादगीका मूल्य है, अनुशासन और विनयका महत्त्व है, वह शैली सबके लिये हितावह हो सकती है।

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें अहंता-ममताका त्याग

अहंताममतात्यागः कथितो हरिणा स्वयम्।
कर्मयोगे ज्ञानयोगे भक्तियोगे समानतः॥

गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनों ही मार्गोंमें अहंता-ममताके त्यागकी बात कही है; जैसे—कर्मयोगमें **'निर्ममो निरहंकारः'** (२।७१) पदोंसे, ज्ञानयोगमें **'अहंकारं····विमुच्य निर्ममः'** (१८।५३) पदोंसे और भक्तियोगमें **'निर्ममो निरहंकारः'** (१२।१३) पदोंसे साधकका अहंता-ममतासे रहित होना बताया गया है। परंतु तीनों योगमार्गोंमें अहंता-ममताका त्याग करनेके प्रकारमें अन्तर है; जैसे—

कर्मयोगमें पहले कामनाका त्याग होता है; क्योंकि कर्मयोगी आरम्भमें ही निष्कामभावसे कर्म करना शुरू कर देता है। जब कामनाका सर्वथा त्याग हो जाता है, तो फिर स्पृहा, ममता और अहंताका भी स्वतः त्याग हो जाता है। दूसरे अध्यायके इकहत्तरवें श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मयोगीमें पहले कामनाओंका त्याग बताया है, फिर स्पृहा, ममता और अहंताका त्याग बताया है।

ज्ञानयोगमें पहले अहंताका त्याग होता है। जब मूल अहंताका ही त्याग हो जाता है, तो फिर ममता, स्पृहा और कामनाका भी स्वाभाविक ही त्याग हो जाता है। अठारहवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें भगवान्‌ने ज्ञानयोगीमें पहले अहंताका त्याग बताया है, फिर लिप्तता-(फलेच्छा-)का त्याग बताया है।

भक्तियोगमें भगवान्‌की शरण होनेपर 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—इस तरह अहंता बदल जाती है, फिर भगवान्‌की कृपासे भक्तियोगी अहंता, ममता, स्पृहा और कामनासे रहित हो जाता है। अठारहवें अध्यायके छाछठवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि तू सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर केवल एक मेरी शरणमें आ जा; मैं तुझे सम्पूर्ण पापों-(अहंता-ममता आदि दोषों-)से मुक्त कर दूँगा।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य अहंता-ममतासे रहित हो सकता है; क्योंकि अहंता-ममता इसके स्वरूप नहीं हैं। अगर अहंता-ममता इसके स्वरूप होते तो इनका कभी त्याग नहीं होता और भगवान् भी इनसे रहित होनेकी बात न कहते।

यह स्वयं (जीवात्मा) जब शरीरके साथ 'यह शरीर मैं हूँ' ऐसा अभिन्नताका सम्बन्ध मान लेता है, तब 'अहंता' पैदा हो जाती है और जब शरीरके साथ 'यह शरीर मेरा है' ऐसा भिन्नताका सम्बन्ध मान लेता है, तब 'ममता' पैदा हो जाती है। इस प्रकार अहंता और ममता—ये दोनों ही मान्यताएँ हैं, स्वरूप नहीं हैं—इस बातको विवेकपूर्वक दृढ़तासे मानकर साधक सुगमतापूर्वक इन दोनोंसे रहित हो सकता है।

साधकको शरीर आदिमें मानी हुई अहंता-ममताका ही त्याग करना है; क्योंकि वह उसका स्वरूप नहीं है। भगवान्‌ने स्वरूपका वर्णन करते हुए कहा है कि 'यह पुरुष स्वयं अनादि और निर्गुण होनेसे परमात्मस्वरूप ही है, और यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है तथा न लिप्त होता है' (१३।३१)। परंतु यह अपनेमें 'मैं करता हूँ और मैं चाहता हूँ'—ऐसा मान लेता है। इन्हीं दोनों मान्यताओंका निषेध करते हुए भगवान्‌ने कहा है—'जिसका अहंकृतभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह अगर सम्पूर्ण प्राणियोंको मार दे, तो भी वह न मारता है और न लिप्त होता है' (१८।१७)। कारण कि वास्तवमें इसके स्वरूपमें कर्तृत्वाभिमान और लिप्तता है ही नहीं।

रामचरितमानसमें जहाँ लक्ष्मणजीने मायाका स्वरूप पूछा, वहाँ उत्तरमें भगवान्‌ने कहा—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
(३।१५।१)

तात्पर्य है कि अहंता (मैं-पन) और ममता (मेरा-पन)—यह मायाका स्वरूप है, अपना स्वरूप नहीं। परंतु यह जीव इस मायाके वशमें हो गया है, बँध गया है। इस बन्धनसे ही मुक्त होना है। संतोंकी वाणीमें भी आया है—

मैं मेरेकी जेवरी, गल बँध्यो संसार।
दास कबीरा क्यों बँधे, जाके राम अधार॥

शरीर आदिमें अहंता-ममता करनेसे स्वयं पराधीन हो

जाता है और इसमें परिच्छिन्नता, मलिनता आ जाती है। अहंता-ममता छूटनेसे स्वतः ही स्वरूपका बोध हो जाता है। अहंता-ममताको छोड़नेसे पहले ही साधक यह दृढ़ विचार कर ले कि अहंता-ममता अपना स्वरूप नहीं है। त्याग उसीका होता है, जो अपना स्वरूप नहीं है। जो अपना स्वरूप होता है, उसका कभी त्याग नहीं होता।

व्यवहारमें भी देखनेमें आता है कि मनुष्य जितनी अहंता-ममता करता है, उतना ही वह संसारमें आदर नहीं पाता; और जितनी अहंता-ममता छोड़ता है, उतना ही वह संसारमें आदर पाता है, स्थान पाता है। साधकका भी यह अनुभव होता है कि वह साधनमें ज्यों-ज्यों ऊँचा बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों अहंता-ममता छूटती जाती है। अहंता-ममताके सर्वथा मिटनेपर साधक जीवन्मुक्त हो जाता है।

अहंता-ममतासे मनुष्य महान् अपवित्र हो जाता है और इनके छूटनेसे महान् पवित्र हो जाता है। जैसे, कोई अहंता-ममतावाला सामान्य व्यक्ति मर जाता है तो लोग उसके कपड़े आदिको छूना भी नहीं चाहते। परंतु जिसकी अहंता-ममता मिट गयी है, ऐसे संत महापुरुषका शरीर छूटनेपर लोग उसके कपड़े आदि वस्तुओंको आदरसहित रखना चाहते हैं; क्योंकि अहंता-ममता न रहनेसे उनकी वस्तुएँ महान् पवित्र हो जाती हैं। केवल पवित्र ही नहीं होतीं, प्रत्युत औरोंको भी पवित्र करनेवाली हो जाती हैं। दूसरी बात जहाँ अहंता-ममतावाले सामान्य मनुष्योंकी दाह-क्रिया की जाती है, वहाँपर यदि भजन-ध्यान किया जाय तो विक्षेप होगा, भय लगेगा, भजन नहीं बनेगा। परंतु जहाँ अहंता-ममतासे रहित संत-महापुरुषोंकी दाह-क्रिया की जाती है, वहाँ बैठकर यदि भजन-ध्यान किया जाय तो मन ठीक लगेगा, भजन-ध्यानमें मदद मिलेगी, शान्ति मिलेगी, पवित्रता आयेगी।

अहंता-ममतासे रहित संत-महापुरुषोंको याद करनेसे घर पवित्र हो जाता है—**'येषां संस्मरणात् पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः'** (श्रीमद्भा० १।१९।३३)। परंतु अहंता-ममतावाले मनुष्योंको याद करनेसे मलिनता आती है, जिससे अहंता-ममताको छोड़ना कठिन मालूम देता है।

जिनमें अहंता-ममता नहीं है, उनमें भगवान् विशेषतासे प्रकट हो जाते हैं। उनके शरीरका स्पर्श करनेवाली वायुसे, उनके वचनोंसे, उनके सम्पर्कमें आनेसे जीवमात्रमें पवित्रता आ जाती है। परंतु उस पवित्रताको स्वीकार नहीं करनेसे अर्थात् उनमें दोषारोपण करनेसे उस पवित्रताके आनेमें आड़ लग जाती है।

अपना जो होनापन (सत्ता) है, वह निरपेक्ष है, उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन मैं-पन (अहंता) में ही होता है, जैसे—मैं विद्वान् हूँ; मैं मूर्ख हूँ; मैं ब्राह्मण हूँ; मैं क्षत्रिय हूँ; मैं वैश्य हूँ; मैं शूद्र हूँ; मैं देवता हूँ; मैं राक्षस हूँ आदि रूपसे मैं-पनमें ही परिवर्तन हुआ है, 'हूँ' (सत्ता) में परिवर्तन नहीं हुआ है। मैं-पन तो बदलता रहा, पर 'हूँ' सबमें एक ही रहा। किसी-न-किसी वर्ण, आश्रम, योग्यता आदिके साथ सम्बन्ध जुड़नेसे 'मैं' होता है; अतः 'मैं' सापेक्ष है और सत्ता स्वतः रहती है; अतः सत्ता निरपेक्ष है।

मैं सुखी हूँ; मैं दुःखी हूँ; मैं धनी हूँ; मैं निर्धन हूँ; मैं रोगी हूँ; मैं नीरोग हूँ—यह सब तो पुराने कर्मोंके कारण है, पर अपनी सत्ता ('हूँ') किसी कारणसे नहीं है। अपनी सत्ता किसी कर्मका फल नहीं है; किसी वर्ण, आश्रम, योग्यता आदिका फल नहीं है। 'मैं' का त्याग करनेपर 'हूँ' नहीं रहता, प्रत्युत 'है' ही रहता है; क्योंकि 'मैं'के कारण ही 'हूँ' है।

सुख-दुःख स्वयंमें नहीं है, प्रत्युत 'मैं' में ही है। 'मैं'के साथ मिलनेसे, अहंतामें स्थित होनेसे, प्रकृतिमें स्थित होनेसे ही यह स्वयं 'मैं सुखी हूँ' अथवा 'मैं दुःखी हूँ'—ऐसा मान लेता है। परंतु जब यह 'मैं'का त्याग कर देता है, 'स्व'में स्थित हो जाता है, तब यह सुखी-दुःखी नहीं होता, सुख-दुःखमें सम हो जाता है—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (१४।२४)।

जो मिटनेवाला होता है, वह बदलनेवाला होता है और जो मिटनेवाला नहीं होता, वह बदलनेवाला नहीं होता। जैसे, सुषुप्तिमें मैं-पनका भान नहीं होता, पर अपनी सत्ताका भान होता है कि 'मैं बड़े सुखसे सोया'। तात्पर्य है कि सभी अवस्थाओं, परिस्थितियों आदिमें अपनी सत्ताका अखण्ड अनुभव होता है, पर मैं-पनका अखण्ड अनुभव नहीं होता।

कोई कहे कि ज्ञान (मुक्ति) होनेपर आसुरी-सम्पत्तिवाला अहम् (१६।१३-१५) ही मिटता है, सर्वथा अहम् नहीं मिटता, प्रत्युत सूक्ष्मरूपसे अहम् रहता है, तो उसका यह कहना ठीक नहीं है। कारण कि अहम्की उत्पत्ति अविद्यासे

होती है और ज्ञान होनेपर अविद्याका नाश हो जाता है। जब अविद्या नहीं रहेगी, तब अविद्यासे होनेवाला अहम् कैसे रहेगा ? जिस ज्ञानसे अविद्या न मिटे, वह ज्ञान कैसा ? वह तो सीखा हुआ शास्त्रज्ञान है, वास्तविक ज्ञान (बोध) नहीं। दूसरी बात, अगर सर्वथा अहम् नहीं मिटेगा तो जैसे बीजसे वृक्ष पैदा हो जाता है, ऐसे ही सूक्ष्म अहम् भी प्राकृत पदार्थ, व्यक्ति आदिका सङ्ग पाकर महान् हो जायगा, आसुरी-सम्पत्तिवाला हो जायगा।

अहम् भोगेच्छा और मोक्षेच्छापर टिका रहता है। भोगेच्छा मिटनेपर मोक्षेच्छाकी पूर्ति हो जाती है अर्थात् चिन्मयताकी प्राप्ति हो जाती है, जिसमें अहम् था नहीं, है नहीं और होगा नहीं।

भारतके सभ्य सुशिक्षित कहे जानेवाले लोगोंकी बीमार मानसिकता

[जन्मोत्सवकी भ्रान्त धारणा]

(श्री आर० एस० रातिया)

वेदादि शास्त्रोंमें मनुष्यके सुसंस्कृत होने तथा उसके सर्वाभ्युदयके लिये यज्ञोपवीतादि षोडश संस्कारोंकी आवश्यकता बतलायी गयी है। व्यक्तिके जन्मदिनपर अनुष्ठित जन्मोत्सव-संस्कार भी इन्हीं संस्कारोंके समान एक माङ्गलिक कृत्य है। प्रत्येक वर्ष या संवत्सरमें जन्ममासकी जन्मतिथिको होनेवाला उत्सव जन्मोत्सव, वर्धापन या अब्दपूर्तिकृत्यके नामसे प्रसिद्ध है। इसका मुख्य उद्देश्य है—आयुष्यकी वृद्धि, सुख-शान्ति तथा सद्बुद्धिकी प्राप्ति। यह एक माङ्गलिक महोत्सव है। इस दिन क्या करना चाहिये, इसकी एक विशिष्ट प्रक्रिया संस्कारादि पद्धतियोंमें निर्दिष्ट है। संक्षेपमें यहाँ कुछ निदर्शन किया जाता है—जिस व्यक्तिका जिस तिथिको जन्म-दिवस हो उसे[1] प्रातःकाल गन्धादि माङ्गलिक द्रव्योंसे सुवासित तथा अभिमन्त्रित जलसे स्नान कर नवीन शुद्ध वस्त्रोंको पहनकर आसनपर बैठकर संध्यादि कृत्योंको करना चाहिये। अनन्तर माता-पिता एवं गुरुजनोंको प्रणामकर संकल्पपूर्वक गणपति-गौरी आदिका स्मरण करना चाहिये। फिर प्रधान पूजामें किसी श्वेत वस्त्रमें दही तथा अक्षतोंको मिलाकर दध्यक्षत-पुञ्जोंमें उत्तरवृद्धिसे कुलदेवता, माता-पिता तथा चिरजीवी मार्कण्डेय, व्यास, बलि, परशुराम, कृपाचार्य, हनुमान्, विभीषण एवं प्रह्लादके साथ-साथ षष्ठी आदि देवताओंका यथासाध्य आवाहन-स्थापनपूर्वक पूजन करना चाहिये। इन सभी देवताओं तथा महर्षियोंसे दीर्घ आयु तथा सत्कर्ममें प्रवृत्तिकी प्रार्थना की जाती है। महर्षि मार्कण्डेय कल्प-कल्पान्तजीवी हैं, अतः विशेषरूपसे उनकी पूजा की जाती है, उनकी प्रार्थनाका मन्त्र इस प्रकार है—

आयुःप्रद महाभाग सोमवंश समुद्भव।
महातपो मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय नमोऽस्तु ते॥
मार्कण्डेय महाभाग सप्तकल्पान्तजीवन।
आयुरारोग्यसिद्ध्यर्थमस्माकं वरदो भव॥
चिरजीवी यथा त्वं भो भविष्यामि तथा मुने।
रूपवान् वित्तवाँश्चैव श्रिया युक्तश्च सर्वदा॥
चिरजीवी यथा त्वं तु मुनीनां प्रवर द्विज।
कुरुष्व मुनिशार्दूल तथा मां चिरजीविनम्॥

पूजन आदिके अनन्तर मार्कण्डेयजीको निवेदित तिल एवं गुडमिश्रित दूधका पान करना चाहिये। अनन्तर ब्राह्मणादिके पूजनपूर्वक उन्हें भोजन-दक्षिणा आदिसे संतुष्ट कर स्वयं भी भोजन करना चाहिये। निम्ब, गुग्गुल, सिद्धार्थ, दूर्वा तथा गोरोचन—इन पाँच आयुष्य-द्रव्योंसे युक्त पोटलिका भी प्रतिष्ठितकर दाहिने हाथमें बाँधनेका विधान है।

अन्तमें ब्राह्मण एवं कुटुम्ब—परिवारके सभी बड़े-बूढ़े तथा गुरुजनोंको तृप्त कर उनका आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिये। इस दिन माङ्गलिक दीपक जलाये जाते हैं तथा पुष्पादिसे घरको सुसज्जित कर आनन्द मनाया जाता है। सायंकालमें घरमें तथा मन्दिरोंमें घीके दीपक जलाकर रखे जाते हैं। कुछ लोग रात्रिमें भजन-कीर्तनादिका आयोजन भी सुविधानुसार करते हैं। मन्दिरमें श्रद्धा एवं विनयपूर्वक पत्र-पुष्प भगवान्‌को

१-यज्ञोपवीतसे पूर्व पिता आदि पुत्रके उद्देश्यसे इस कृत्यको सम्पन्न करते हैं तथा यज्ञोपवीत हो जानेपर स्वयं या ब्राह्मणद्वारा करवाना चाहिये, ऐसी व्यवस्था बतलायी गयी है।

अर्पण कर जीवनमें खुशियोंकी याचना की जाती है। घरके सभी बड़े-बूढ़े स्त्री-पुरुषोंके पैर छूकर उनका स्नेह और आशिष् लेते हैं। यह भारतीय सनातन संस्कृतिकी सुदीर्घ परम्परा है।

यह बड़े आश्चर्यका विषय है कि इस उपर्युक्त सनातन संस्कारका रहस्य न समझने एवं विधिकी अज्ञानताके कारण उसकी उपेक्षा कर देनेसे वर्तमान कालमें ठीक इसके विपरीत जन्मदिन मनानेकी एक दूसरी ही परम्परा चल पड़ी है। आजकल आयोजन सायंकाल या रात्रिमें किया जाता है। बालक जितने वर्षका हो जाता है, उतनी ही मोमबत्तियाँ जलायी जाती हैं, बीचमें बड़ा-सा केक बनवाकर रखते हैं। जब निमन्त्रित सब लोग—इष्ट-मित्र आ जाते हैं, तब वह बालक उन दीपों (मोमबत्तियों) को फूँक मारकर बुझा देता है। (भारतीय संस्कृतिमें दीपको फूँक मारकर बुझाना अपशकुन माना जाता है।) फिर बालक केक काटता है, जिसपर सामान्यतया उसका नाम भी लिखा होता है। इस प्रकार चिराग गुल होते हैं और नामके टुकड़े-टुकड़े। तब सब लोग एक स्वरसे ताली बजाते हुए बार-बार कहते हैं—'हैपी बर्थडे टू यू'।

जन्मदिन मनानेके इस तरीकेमें पाश्चात्त्य संस्कृतिकी झलक ही मिलती है—जिसमें आनन्दके अवसरपर दीप जलाकर बालकसे फूँक मारकर बुझवा दिये जाते हैं। जबकि दीप हमेशा प्रज्वलित रहने चाहिये। जैसा कि आम खुशीके अवसर आनेपर 'घीके दीपक जलाये जा रहे हैं' यह उक्ति सुननेमें आती है। इस तरीकेमें बुजुर्गोंके आशीर्वाद एवं चरणस्पर्श कर स्नेह प्राप्त करनेका कहीं कोई विधान नहीं है। यह हमारी बीमार मानसिकताका द्योतक है। लोग बीमार मानसिकतासे छुटकारा पायें—स्वस्थ मानसिकता अपनायें। जन्मदिनके खुशीके अवसरपर माङ्गलिक एवं रक्षा-दीप अवश्य जलायें, परंतु उन्हें फूँक मारकर न बुझायें और जलते रहने दें। यह भारतीय संस्कृति है। हमें चाहिये कि हम अपने आचार, विचार एवं परम्पराके अनुसार ही अपने कर्तव्यकर्मों और धार्मिक कृत्योंका अनुपालन करें।

पाँच प्रकारके पुत्र

१-न्यासानुबन्धी—किसीको बहुत ईमानदार और अपना सुहृद् समझकर कोई अपने रुपये-पैसे, गहने, जमीन अथवा दूसरी वस्तुएँ धरोहरके रूपमें उसके पास रखता है। परंतु कुछ दिनों बाद रखनेवाला जब वापस माँगता है, तब उसे वह वस्तु नहीं मिलती। जिसके यहाँ रखी गयी थी, वह बेईमानीसे उसे हड़प जाता है और रखकर जानेवालेको अँगूठा दिखा देता है। वह न्यासापहारक—धरोहर हजम करनेवाला कहलाता है। उसे इस पापके फलस्वरूप नरकादिकी प्राप्ति तो होती ही है, धरोहर वापस न पानेवाला आसक्तिवश धरोहरका धन वसूल करनेके लिये उसके यहाँ जन्म लेता है और उसे दुःख दे-देकर मर जाता है।

वह बहुत सुन्दर, गुणवान् और अच्छे-अच्छे लक्षणोंसे युक्त होता है। दिनों-दिन बड़ी भक्ति दिखलाता है, बहुत प्यारा बोलता है, मधुर स्वभावका होता है, बोलनेमें बहुत चतुर और स्नेह बढ़ानेवाला होता है। इस प्रकारकी संतानको पाकर माँ-बाप प्रसन्न हो जाते हैं। परंतु वह स्नेह दिखला-दिखलाकर खेलकी सामग्रियों, अच्छे-अच्छे कपड़ों-गहनों, बीमारीके बहाने चिकित्सा और ओषधियों आदिके द्वारा अपनी धरोहर वसूल करता रहता है और दारुण दुःख देकर छोटी ही उम्रमें मर जाता है। पिता जब 'हाय-हाय' करके रोता है, तब वह मानो यों कहकर हँसता है कि 'इसने पूर्वजन्ममें मेरा रखा हुआ धन हड़प लिया था, इससे मुझे बड़े-बड़े दुःख उठाकर मरना पड़ा था। आज मैं अपना वही धन लेकर जा रहा हूँ। कौन मेरा पिता है, मैं किसका पुत्र हूँ। अब यह पिशाचकी भाँति रोता और भटकता रहेगा।' इस प्रकार कहकर वह बार-बार हँसता है। और जबतक अपनी धरोहर मिल नहीं जाती—वासना, आसक्ति और प्रतिहिंसाकी वृत्तिसे बार-बार पुत्रके रूपमें जन्म ले-लेकर उसे दुःख दे-देकर मरता है—

'दुःखं दत्त्वा प्रयात्येवं भूत्वा भूत्वा पुनः पुनः।'

२-ऋणानुबन्धी—जो मनुष्य किसीसे कर्ज लेकर बेईमानी कर जाता है और चुकानेमें समर्थ होनेपर भी उसे चुकाता नहीं, ऋण देनेवाला अगले जन्मोंमें उसके यहाँ संतान

होकर जन्म लेता है। वह जन्मसे ही निष्ठुर और निर्दयी होता है। सदा कड़ुआ बोलता है, घरमें अच्छी-अच्छी चीजें छीन-छीनकर खा जाता है। रोकनेपर खीझकर गालियाँ बकता है, माँ-बापकी निन्दा करता है, हृदयमें बड़ी करुणा उत्पन्न करनेवाले और डरा देनेवाले कठोर वचन बोलता है। जूआ खेलता है, चोरी करता है, लूट-लूटकर खाता है, लड़कपनसे ही मौज-शौक, बीमारी, सगाई, विवाह आदिमें खूब खर्च करवाता है। वह कहता है सब कुछ 'मेरा' ही है। पिता-माताको बोलने भी नहीं देता। बोलते हैं तो लातों-घूसों तथा लाठी-डंडोंसे उनकी खबर लेता है। पिता मर जाता है तब माताको इसी प्रकार दुःख देता है। श्राद्ध-दान आदि सत्कर्म कभी नहीं करता और इस प्रकार अपना ऋण वसूल करता है। संसारमें ऐसे भी पुत्र पैदा होते हैं—

'एवंविधाश्च वै पुत्राः प्रभवन्ति महीतले।'

३-वैरानुबन्धी—पूर्वजन्ममें वैरभावसे किसीको दुःख पहुँचाया हो तो वह अपना बदला चुकानेके लिये इस जन्ममें पुत्र होकर पैदा होता है। वह लड़कपनसे ही माँ-बापके साथ वैरीका-सा आचरण करता है। खेल-ही-खेलमें पिता-माताको बुरी तरह मारकर हँसता हुआ भाग जाता है। यों बार-बार मारता है, नित्य-निरन्तर गुस्सेमें भरा हुआ उन्हें जली-कटी सुना-सुनाकर जलाता रहता है। सुखकी नींद कभी नहीं सोने देता। जबतक वे जीते हैं, तबतक दुःख-ही-दुःख देता है, प्रत्यक्ष वैरीका-सा बर्ताव करता है और अन्तमें वह दुष्टात्मा अपने पिता-माताको मारकर अपना बदला चुकाकर चला जाता है—

पितरं मारयित्वा च मातरं च ततः पुनः।
प्रयात्येवं स दुष्टात्मा पूर्ववैरानुभावतः॥

४-उपकारानुबन्धी—जिसका पूर्वजन्ममें सकामभावसे उपकार किया हो, जिसे सुख पहुँचाया हो, वह सुख देनेके लिये पुत्ररूपमें जन्म लेता है। ऐसा पुत्र बड़ा ही सुशील, प्रिय और सुखदायी होता है। वह जन्मसे लेकर दीर्घकालतक माँ-बापको सुख देता है, उनका प्रिय कार्य करता है। भक्ति और स्नेह-भरे वचनों तथा कार्योंसे संतुष्ट करता है। उनकी सेवा करता है। उन्हें अच्छे-अच्छे भोजन कराता है और दान-पुण्य करवाता है। माता-पिताके मरनेपर दुःखी होकर स्नेहवश रोता है तथा श्राद्ध-पिण्ड-दानादि सब क्रियाओंको श्रद्धापूर्वक करता है और अपना सारा जीवन उनकी कीर्ति-विस्तारमें लगाता है। वह पुत्र होकर इस प्रकार माता-पिताके संतोषार्थ ही सब कुछ करता है—

'पुत्रो भूत्वा महाप्राज्ञ अनेन विधिना किल।'

५-उदासीन—जो किसी प्रकारका भला-बुरा बदला चुकानेके लिये जन्म नहीं लेता, वह उदासीन पुत्र कहलाता है। वह न कुछ देता है न लेता है, न किसीपर क्रोधित होता है और न तो संतोष प्रकाश करता है। उसकी सभी क्रियाएँ उदासीनकी तरह होती हैं। उसका सारा जीवन उदासीनभावमें ही बीतता है—

'उदासीनेन भावेन सदैव परिवर्तते।'

जैसे पूर्वजन्मोंका बदला चुकानेके लिये ये पुत्र होते हैं, वैसे ही अन्य सम्बन्धी आदि भी होते हैं—

यथा पुत्रस्तथा भार्या पिता माताथ बान्धवाः॥
भृत्याश्चान्ये समाख्याताः पशवस्तुरगास्तथा।
गजा महिष्यो दासाश्च .... ॥

पुत्रकी तरह पत्नी, पिता-माता, बन्धु-बान्धव, नौकर, गौ, घोड़े, हाथी, भैंस और दास आदि भी पूर्वजन्मके अच्छे-बुरे कर्मोंका फल देने और बदला चुकानेके लिये होते हैं।[1]

भगवान्‌के प्रेमीकी यही पहचान है कि वह भगवान्‌के दर्शनके लिये अत्यन्त व्याकुल रहता है। बहुत भूखा आदमी जैसे रोटीके लिये चिन्तित रहता है, उससे भी सहस्त्रगुणा अधिक चिन्ता भक्तको भगवान्‌के लिये रहती है। जैसे भूखेका चेहरा छिपा नहीं रहता, वैसे ही विरही भक्तका भी छिपा नहीं रहता।—एक अरण्यवासी महात्मा

१-श्रीसोमशर्मा और उनकी धर्मपत्नी सुमनाका संवाद। (पद्मपुराण, भूमिखण्ड, अध्याय ११। १२)

साधनोपयोगी पत्र

(१)

भगवान्‌का विधान

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण। आपके कुछ महीनोंपूर्व आये हुए पत्रका उत्तर आज दिया जा रहा है। कार्यकी अधिकताके कारण अबतक इधर ध्यान न दिया जा सका, कृपया क्षमा करेंगे।

आप पूछते हैं—'देशमें मँहगाई और हिंसा फैल रही है, साथ ही मनुष्य भी नरहत्याका ताण्डव नृत्य कर रहे हैं। वे पशुसे भी आगे बढ़ गये हैं। हिंसक-से-हिंसक पशु भी ऐसी खून-खराबी नहीं कर सकते, इसमें भगवान्‌का कहाँतक हाथ है ?····।'

इसमें संदेह नहीं कि संसारमें जो कुछ हो रहा है वह भगवान्‌की इच्छासे ही होता है, उनकी इच्छाके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। साथ ही यह भी सत्य है कि भगवान् परम दयालु हैं, वे सम्पूर्ण जगत्‌का कल्याण ही चाहते हैं, वे कभी ऐसी इच्छा नहीं कर सकते कि जगत्‌में प्राणी कष्ट भोगें, उनकी निर्दयतापूर्वक हत्या होती रहे।

ये बातें ऊपरसे देखनेपर परस्पर विरुद्ध-सी प्रतीत होती हैं, किंतु हैं दोनों ही सत्य। इस रहस्यको समझना आवश्यक है। भगवान्‌में स्वतः कोई इच्छा नहीं होती। वे स्वरूपतः पूर्णकाम और कृतकृत्य हैं। जिसे कुछ पाना या करना शेष हो वही इच्छा करता है, अथवा उसीके मनमें इच्छा या कामनाका उदय होता है। भगवान्‌के लिये तो **'नानवाप्तमवाप्तव्यम्'** है, उन्हें न कोई वस्तु अप्राप्त है और न पानेयोग्य है, फिर उनमें इच्छा कैसे रहे ? ऐसे इच्छारहित भगवान्‌में इच्छा पैदा करते हैं, हमारे अपने कर्म। हमारे द्वारा जो नाना प्रकारके कर्म होते रहते हैं, उनमें शुभ और अशुभ सभी तरहकी क्रियाएँ होती हैं। शुभ कर्मोंका फल सुख और अशुभ कर्मोंका फल दुःख है। जो जैसा कर्म करता है उसे वैसा फल मिले—यह भगवान्‌का ही बनाया हुआ नियम है। अशुभका दण्ड इसलिये है कि हम अशुभसे दूर रहें। शुभका पुरस्कार इसलिये है कि हम शुभकर्म ही करें। दण्ड देनेमें भगवान्‌का न तो जीवके प्रति कोई द्वेष है और न पुरस्कार देनेमें किसी जीवके प्रति उनका राग ही है। वे तो कर्मफलोंकी व्यवस्थामात्र कर देते हैं। इसलिये उनमें निर्दयता और विषमताका दोष नहीं दिया जा सकता।

जब अधिक जीवोंके बुरे प्रारब्ध-कर्म एक साथ फल देनेको उन्मुख हो जाते हैं तब अकाल, मँहगाई तथा पारस्परिक संघर्ष और हिंसा आदिके द्वारा उन्हें कष्ट भोगना पड़ता है। आप कहेंगे, इसमें भगवान्‌की दया कहाँ रही। वे तो न्यायाधीशकी भाँति फैसलामात्र सुना देते हैं। नहीं—ऐसी बात नहीं है। भगवान्‌का प्रत्येक कार्य दयासे भरा रहता है। ये भाँति-भाँतिके कर्म जीवको अपने पाशमें बाँधकर भगवान्‌से पृथक् किये हुए हैं। भगवान् उन कर्मोंके फल भुगताकर यह चाहते हैं कि ये इनके बन्धनसे छूट जायँ। ये मुझसे पृथक् हो अस्वस्थ या अपदस्थ हो गये हैं, पुनः इन्हें अपने स्वास्थ्य अथवा पदकी प्राप्ति हो—यही उन दयामय प्रभुकी इच्छा है।

जैसे डॉक्टर बहुत-से रोगियोंको बेहोश करके उनके घावोंको छुरेसे चीरता है, उनके सड़े-गले मांस और रक्तको निकालता है, आवश्यकता होनेपर हड्डियों तथा किसी अङ्ग तकको काट डालता है, उसी प्रकार भगवान् भी करते हैं। डॉक्टरके उस ऑपरेशनको एक छोटा बालक निर्दयताका ही काम कह सकता है, किंतु समझदार यह जानते हैं कि डॉक्टरका सारा प्रयत्न रोगीको जीवनदान देनेके ही लिये है। इसी प्रकार जब जगत्‌में सामूहिक संहारकी लीला देखनेमें आती है तो साधारण मनुष्य भगवान्‌को निष्ठुर, निर्दय तथा और भी न जाने क्या-क्या कहने लगते हैं, किंतु ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि भगवान्‌का प्रत्येक कार्य जगत्‌के कल्याणके लिये ही हो रहा है। उसमें जो कष्ट या दुःखकी प्राप्ति कुछ कालके लिये होती है, वह हमारे अपने ही कर्मोंका अपथ्य-सेवनमें बढ़ाये हुए रोगों या घावोंका ही कटु परिणाम है। भगवान् तो उससे भी छुड़ानेके लिये ही यत्नशील हैं।

इतना होनेपर भी जो मानव स्वयं असुर बनकर दूसरे नर-नारियोंका रक्त बहा रहे हैं, उन्हें इसका कठोर दण्ड भोगना पड़ेगा। जो लोग इस अत्याचारके शिकार हो रहे हैं, उनको तो किसी पूर्व-कर्मका भोग मिलता है, परंतु जो धर्म और ईश्वरको भूलकर, विवेक और विचारको खोकर तुच्छ स्वार्थके लिये या

काम, क्रोध, द्वेष, वैर और हिंसावृत्तिके वशमें होकर प्राणियोंके जीवनको संकटमें डाल रहे हैं, वे गीताकी वाणीमें 'असुर-स्वभाव' वाले हैं। उन्हें भगवान्‌का कठोर दण्ड अवश्य मिलता है।

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

कष्टके लिये क्षमा करें। शेष भगवत्कृपा।

(२)

भविष्यके लिये शुभ विचार कीजिये

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपकी पारिवारिक स्थितिसे आपको असंतोष है, पिताजीके व्यवहारसे आपको क्षोभ होता है और आप आवेशमें आकर गृह-त्यागका और कभी-कभी देह-त्यागका विचार करते हैं, सो मेरी समझसे आपको ऐसा विचार भूलकर भी नहीं करना चाहिये। संसारमें ऐसा कोई भी नहीं है जिसके मनकी ही सब बातें होती हों। भगवान्‌का मङ्गल-विधान मानकर प्रतिकूलतामें अनुकूलताका अनुभव करनेसे ही चित्तमें शान्ति हो सकती है। जहाँ आप भगवान्‌के मङ्गल-विधानमें विश्वास करने लगेंगे, वहीं लौकिक परिस्थिति भी बदलने लगेगी। प्रतिकूल भी अनुकूल होने लगेंगे। पर वे न भी होंगे, तो भी आपका क्षोभ तो मिट ही जायगा। भावी जीवनको संकटमय न देखकर सुखमय देखनेका संकल्प कीजिये। जो मनुष्य रात-दिन दुःख, क्लेश, संकट और असफलताका चिन्तन करता है, वह क्रमशः दुखी, क्लेशित, संकटापन्न और असफल ही होता है। मनुष्यकी अपनी जैसी दृढ़ भावना होगी, वैसी ही परिस्थितिका निर्माण होगा और अन्तमें वह वैसा ही बन जायगा। आपके भगवान् सर्वसमर्थ हैं, आपके परम सुहृद् हैं, उनकी कृपापर विश्वास करके भविष्यको अत्यन्त उज्ज्वल तथा सुखमय देखनेका अभ्यास कीजिये। ध्रुव, प्रह्लाद, भरत आदिके इतिहासको याद कीजिये। भगवान्‌की कृपासे क्या नहीं हो सकता और उनकी कृपा आपपर अपार है। इस बातपर विश्वास कीजिये। भगवान्‌ने अपनेको स्वयं समस्त प्राणियोंका सुहृद् बतलाया है। आप घबराइये नहीं। मनमें जो देहत्याग आदिके असत् विचार आते हैं, इनको निकालकर मनमें बार-बार ऐसे विचार लाइये कि आप सर्वशक्तिमान् सर्वलोकमहेश्वर अकारण-प्रेमी भगवान्‌के परम प्यारे हैं। उनकी कृपा-सुधाधारा निरन्तर आपपर बरस रही है। आप उनके लाड़ले पुत्र हैं। उनकी कृपासे आपकी सारी विपदाएँ, सारी अड़चनें स्वतः ही दूर हो जायँगी। उनकी घोषणा है—'तुम मुझमें चित्त लगा दो, मेरी कृपासे सारी कठिनाइयोंसे तर जाओगे।' आपकी प्रत्येक स्थितिसे वे परिचित हैं और सदा आपके कल्याण-साधनमें लगे हैं। उनकी कृपाशक्तिके सामने आपपर विपत्ति डालनेवाली कोई भी शक्ति कुछ भी नहीं कर सकेगी। आपकी वे सब प्रकारसे वैसे ही रक्षा करेंगे, जैसे स्नेहमयी माता बच्चेकी रक्षा करती है। आप किसी प्रकार भी निराश, उदास और विषादग्रस्त मत होइये। भविष्यको संकटापन्न और अन्धकारमय देखनेका अर्थ है—भगवान्‌की कृपापर विश्वास न करना। आप जप-कीर्तन तथा भजन करते हैं सो बड़ी अच्छी बात है, पर जप-कीर्तन और भजनका प्राण तो भगवान्‌पर विश्वास है। विश्वासहीन भजन निष्प्राण होता है। घरवाले यदि आपके भजन-कीर्तनसे अप्रसन्न हैं तो मन-ही-मन भजन कीजिये। मन-ही-मन करनेको कोई भी नहीं रोक सकता। शेष भगवत्कृपा।

(३)

भगवद्भक्तिसे हानि नहीं होती

प्रिय बहिन! आपका पत्र मिला। आप लड़कपनसे ही यथाशक्ति पूजा-पाठ तथा जप करती हैं। आपके दो पुत्र चले गये। अब तीसरा बच्चा हुआ है। पर आपकी माताजी कहती हैं कि 'इस पूजा-पाठके कारण ही पहले बच्चे मर गये थे। तुम्हारे पूजा-पाठसे इस बच्चेका भी अनिष्ट हो जायगा।' सो यह उनका भ्रम है। भलेका फल कभी बुरा नहीं हो सकता। भगवान्‌की भक्ति, भगवान्‌के नाम-जप तथा अपने घरमें भगवान्‌की पूजा करनेका सभीको अधिकार है। स्त्री हो या पुरुष—यह सभीके लिये मङ्गलकारी कार्य है। भगवान्‌की भक्तिसे पुत्रोंके मरनेका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। हानि-लाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण सब प्रारब्धके फल हैं। भगवद्-भक्तिसे तो सकामभाव होनेपर ये प्रारब्धके विधान उलटे टल सकते हैं। न टलें तो भी अमङ्गल तो होता ही नहीं। मनुष्य-जीवनकी सफलता ही भगवान्‌की भक्तिमें है। आपको

बड़ी नम्रता, विनय तथा सेवा करके माताजीको यह बात समझानी चाहिये। विवाद-झगड़ा कभी नहीं करना चाहिये।

फिर भी यदि माताजीको इससे बहुत ही दुःख होता हो तो आप धीरे-धीरे अपने भक्तिके भावको मनके अंदर ले जाइये। मनसे आप भगवान्‌को याद करेंगी, उनकी मानसिक पूजा करेंगी तो उससे कोई आपको रोक नहीं सकता। न किसीको पता ही लग सकता है। फिर किसीकी अप्रसन्नताका कोई प्रश्न ही नहीं रह जायगा। और वास्तवमें जितना महत्त्व मानसिक भावोंका है, उतना बाहरी पूजाका है भी नहीं। पर इसका यह अर्थ नहीं मानना चाहिये कि मैं बाहरी पूजाका निषेध करता हूँ। बाहरी पूजा भी अवश्य करनी चाहिये, परंतु भीतरीके साथ-साथ। और जहाँ-कहीं उससे कोई उपद्रव खड़ा होता हो, (चाहे वह किसीकी भूलसे हो) वहाँ तो ज्यादा अभ्यास भीतरीका ही करना चाहिये।

अन्तमें आपकी माताजीसे भी मेरी प्रार्थना है कि वे इस बहमको छोड़ दें। भगवान्‌की भक्ति और पूजा स्त्री-पुरुष सभी कर सकते हैं और भगवान्‌की भक्ति-पूजासे लोक-परलोकमें कल्याण ही होता है। उसको रोकना, भक्ति करनेवालेका विरोध करना पाप है और उससे परिणाममें दुःख होता है। घरवालोंका तो यह परम धर्म होना चाहिये कि वे समझाकर, विनय करके, सेवा करके सभी घरवालोंको भगवान्‌की भक्तिके मार्गमें लगायें। वही सच्चा घरका मित्र, बन्धु और हितैषी है जो अपने घरवालों, मित्रों और बन्धुओंको भगवान्‌की ओर लगाता है—

तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो॥

शेष भगवत्कृपा !

सुख-दुःखसे अतीतके जीवनकी खोज

साधक प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगसे परिस्थितियोंसे परेके जीवनमें प्रवेश कर सकता है। उस जीवनमें किसी प्रकारकी विषमता, अभाव, भय या जडता नहीं है। उस जीवनकी प्राप्ति प्रत्येक परिस्थितिके सदुपयोगसे हो सकती है। इस दृष्टिसे प्रत्येक परिस्थिति साधनमात्र है, साध्य नहीं। साधनबुद्धिसे प्रत्येक परिस्थिति आदरणीय है। इस दृष्टिसे अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही समान हैं। जिस प्रकार यात्री दायें-बायें दोनों ही पैरोंसे चलकर अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचता है, उसी प्रकार साधक अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियोंके सदुपयोगसे अपने अभीष्ट लक्ष्यतक पहुँचता है।

सुख-दुःख अपने-आप आने-जानेवाली वस्तुएँ हैं। उनमें आबद्ध होना चित्तको अशुद्ध करना है। सुखमें उदारता और दुःखमें त्याग अपना लेनेपर सुख-दुःखका बन्धन स्वतः टूट जाता है। भोगी रुचिका नाश भोगकी वास्तविकता जान लेनेपर स्वतः हो जाता है। योगकी लालसा भोगकी रुचिका अन्त करनेमें समर्थ है। प्रतिकूलता जीवनमें केवल योगकी लालसाको प्रबल बनानेके लिये आती है। योगकी लालसा भोगकी रुचिको खाकर योगसे अभिन्न कर देती है।

सुखके आदि और अन्तमें दुःख है। यदि उस दुःखका प्रभाव इतना हो जाय कि सुखकी लोलुपता मिट जाय तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सुख-दुःखसे अतीतके जीवनमें प्रवेश हो सकता है। सुखकी आसक्ति और दुःखके भयने ही चित्तको अशुद्ध कर दिया है। चित्त शुद्ध करनेके लिये यह अनिवार्य है कि दुःखके महत्त्वको अपना लिया जाय। इससे सुखकी दासता स्वतः मिट जायगी।

दुःखका भय और सुखकी दासता सुख-दुःखका सदुपयोग नहीं होने देते। अतः दुःखके भय तथा सुखकी दासताका अन्त करना अनिवार्य है। सुखसे अतीतके जीवनकी जिज्ञासा भी सुखके रागको खा लेती है। सुख-दुःखसे अतीतके जीवनका विश्वास भी सुख-दुःखसे सम्बन्ध-विच्छेद करानेमें समर्थ है। उपर्युक्त तीनों बातोंमेंसे जिस साधकको जो सुगम हो उसे वही अपना लेना चाहिये। किसी एकके भी अपना लेनेसे सफलता हो सकती है।

★

पढ़ो, समझो और करो

(१)

बुराईके बदले भलाई—हृदय-परिवर्तन

कुछ वर्षों पहलेकी बात है। बाबू रामानन्दके बगलमें ही एक सोनारका घर था। सोनार बहुत अच्छा आदमी था, उसकी पत्नी भी साध्वी थी, पर पता नहीं क्यों, बाबू रामानन्दको सोनारके प्रति द्वेष हो गया था। वे चाहे जिससे उसकी निन्दा करते। कोई भी गहना बनवाने आते तो रामानन्द उसकी बेईमानी-चोरी बताकर उसमेंसे कइयोंको लौटा देते। पर वास्तवमें सोनार बड़ा ही ईमानदार था। इससे उसकी बहुत अच्छी साख थी। रामानन्दके विपरीत प्रयत्नपर भी उसको बहुत काम मिलता। उसकी लड़कीका व्याह था। पड़ोसीकी सहायता करना तो दूर रहा, रामानन्दने अपने दुष्ट स्वभाववश विवाहमें भी कई तरहके विघ्न डाले। बरातियोंका अपमान कराया। उन्हें भड़काया भी। विवाह किसी तरह हो गया। पर सोनारने न कुछ बुरा माना, न रामानन्दका प्रतिकार किया और रामानन्दके साथ व्यवहारमें भी कहीं रूक्षता-कटुता नहीं आने दी। वह वैसे ही विनम्र तथा निश्चल बना रहा। एक दिन रामानन्दने कुछ दे-लेकर गुंडेके द्वारा राह चलते सोनारको गालियाँ दिलवायीं और उसे मरवाया। उसके घर तथा दूकानपर एक दिन गंदा कूड़ा गिरवा दिया। इस तरह अपनी ओरसे रामानन्दने सोनारको नुकसान तथा कष्ट पहुँचानेमें कोई कसर उठा नहीं रखी। पर सोनार सहज ही शान्त रहा।

एक रात्रिकी बात थी, रामानन्द कहीं बाहर गया हुआ था। घरमें उसकी स्त्री तथा बालक अकेले थे। चोरोंने सुअवसर देखकर रामानन्दके घरमें सेंध लगायी। वह धनी था। हजारों रुपये नकद उसके घरमें रहते और गिरवी रखा हुआ तथा अपना हजारों रुपयेका गहना भी उसके घरमें था। ठीक उसी समय सोनारकी पत्नी जग गयी। उसने पतिको जगाया। तबतक सेंध लगाकर एक चोर अंदर घुस गया था। दो बाहर खड़े थे। उजियाली सुनसान रात थी। माल भी बाहर निकाल लिया था। नकद रुपये तथा बहुत-सा गहना था। वे भागना ही चाहते थे। सोनारने जाकर चोरोंको ललकारा। चोर वहींके जान-पहचानके थे। सोनार उन्हें पहचानता था। उन्होंने सोनारसे कहा—'तुमको तो हमारी सहायता करनी चाहिये। तुम्हें कितना रुलाता तथा कष्ट देता रहता है वह नीच रामानन्द। आज वह घर नहीं है, हमलोग सब मालमत्ता ले जायँगे तो उसका मिजाज ठंडा हो जायगा तथा वह सीधा हो जायगा। तुम्हारे लिये तो यह खुशीकी बात है।' सोनारने कहा—'भाई ! ऐसा नहीं हो सकता। हमलोगोंका आपसमें पुस्तैनी भाईचारेका सम्बन्ध है। क्या हुआ, जो भूलसे हमें वह कुछ कह-सुन लेता है, आखिर है तो हमारा पीढ़ियोंका पड़ोसी भाई ही। जबतक मेरे शरीरमें प्राण हैं, मैं अपने देखते-जानते भाई रामानन्दका तनिक-सा भी नुकसान नहीं होने दूँगा।' चोरोंने छूरा निकालकर कहा—'बड़े धर्म पालनेवाले आये हो, हट जाओ यहाँसे, नहीं तो अभी काम तमाम हो जायगा।'

सोनारकी स्त्री इसी बीचमें उठकर कुछ ही दूरपर एक धनी सज्जन हरचन्द्ररायका घर था, उसमें रातको पहरा लगा करता था, वहाँ पहुँच गयी और पहरेदारसे प्रार्थना करके तुरंत थानेमें खबर करवा दी। मुहल्लेमें और लोग भी जग गये। सोनारकी स्त्रीके उद्योगसे यह सब हो गया। थानेसे पुलिसके सिपाही चले और मुहल्लेके लोग भी। इधर चोर छूरा मारनेको तैयार हुए ही थे कि सिपाही तथा और लोग समीप आ गये। चोर माल लेकर भागे। सोनारके रोकनेपर एक चोरने सोनारको छूरा मारा, पर वह भाग रहा था। सोनारने बायाँ हाथ सामने किया तो उसकी हथेलीपर कुछ चोट लगी। इतनेमें पुलिस तथा और लोग आ गये। तीनों चोर मालके साथ रँगे हाथों पकड़ लिये गये। रामानन्दकी स्त्री यह सब देख रही थी। मुहल्लेके लोग सोनारका यह पवित्र भाव तथा महान् कार्य देखकर दंग रह गये। सब उसकी प्रशंसा करने लगे। सभी जानते थे कि रामानन्द वर्षोंसे निर्दोष सोनारको बेहद सता रहा था। उन्होंने उसकी स्त्रीसे कहा—'देखो, अपने पतिकी काली करतूतपर विचार करो और इस सोनारका भला काम देखो। छूरा कहीं भी लग सकता था और इसकी जान जा सकती थी। पर इसने तुम लोगोंको अपनी जान देकर भी बचाना चाहा और दोनों स्त्री-पुरुषने मिलकर आखिर बचा ही लिया।' रामानन्दकी पत्नी रो रही थी, अपने काले कारनामोंको याद

करके और सोनार-दम्पतिका अनोखा त्याग तथा प्रेम देखकर। पश्चात्तापके आँसुओंने उसका सारा कलुष धो दिया।

दूसरे दिन रामानन्द लौटा। पत्नीने सारा हाल बतलाया। मुहल्लेके लोगोंने तथा पुलिसने भी बतलाया। रामानन्दका हृदय पलट गया। उसके हृदयका सारा विष सोनार-सोनारीके विलक्षण स्नेहामृतसे नष्ट हो गया। वह जाकर सोनार-सोनारीके चरणोंमें पड़ गया। उनसे रो-रोकर क्षमा माँगी, पर उनके मनमें तो कोई द्वेष था ही नहीं। उन्होंने रामानन्दको सरल हृदयसे सान्त्वना दी। रामानन्द तो उनका चरणसेवक बन गया। परस्पर प्रेमका प्रवाह बह चला।

—हरिप्रसाद शर्मा

(२)

सत्प्रेरणासे संकट टला

घटना लगभग छः वर्ष पूर्वकी है। सितम्बरका महीना था। हमें अपने भानजेके विवाहमें सम्मिलित होने उज्जैन जाना था। उज्जैन जानेके लिये नागदा जंक्शनपर गाड़ी बदलनी पड़ती है, अतः हमने देहरादून एक्सप्रेसमें नागदाका आरक्षण कराया था।

दिल्ली जंक्शनपर रात ९ बजे हम गाड़ीमें चढ़े तथा नीचेकी दो बर्थ जो हमारे लिये आरक्षित थी, उसपर सामान रखकर बैठ गये। तभी सम्पन्न परिवारके प्रतीत होनेवाले एक वृद्ध दम्पति सामानके साथ आये और हमारी सीटपर बैठ गये। कुछ देर बाद कंडक्टर आया और उसने उन्हें अपनी सीटपर बैठनेको कहा। वृद्ध पुरुषने कंडक्टरसे कहा—'भाई साहब! मेरी पत्नीको गठियाका रोग है, अतः उसे ऊपर चढ़नेमें तकलीफ होगी, यदि हो सके तो नीचेकी एक बर्थ दे दें।'

'कोई बात नहीं। मेरी नीचेकी बर्थ है, इसपर ये आराम करें, मैं ऊपरकी सीटपर चला जाता हूँ'—मैंने कहा। उस व्यक्तिने कृतार्थ-भावसे धन्यवाद दिया और नीचेकी बर्थपर अपना बिस्तर बिछा लिया।

धीरे-धीरे गाड़ी चलने लगी। ठंडी हवा चल रही थी और कुछ देर बाद हम सब सो गये।

प्रातः लगभग छः बजे आँख खुली। सवाई-माधोपुर स्टेशनपर गाड़ीमें भीड़ होने लगी। दैनिक यात्री चढ़ने लगे। आरक्षित डिब्बा साधारण डिब्बेसे भी अधिक भर गया। बैठनेतकको स्थान मिलना मुश्किल हो गया। मैं नीचेकी सीटपर उतर आया। वे सज्जन तो पहलेसे बैठे हुए थे। थोड़ी देर बाद वे हाथ-मुँह धोने शौचालय गये। भीड़के कारण जानेमें असुविधा थी। वापस आये तो चेहरा मुरझाया-सा था। धीरेसे उन्होंने अपनी पत्नीसे कहा—'गजब हो गया, इस भीड़में तो मेरी जेब कट गयी। सारे पैसे और टिकट भी उसीमें थे, अब क्या होगा।'

साथ बैठे दूसरे यात्रियोंने कहा—'कितने रुपये थे, यहाँ तो रोज यही होता है। पैसोंको सावधानीसे रखना चाहिये था।'

'रुपये तो पाँच हजार थे, उसकी मुझे चिन्ता नहीं, किंतु टिकट खो जानेसे परेशानी है। यदि पकड़ा गया तो अपमान होगा, जुर्माना भरनेको भी पैसे नहीं हैं, जैसी प्रभुकी इच्छा।'

'आप चिन्ता न करें, मैं टिकट-चेकरको समझा दूँगा, आपको जाना कहाँ है'—मैंने उत्सुकतासे पूछा।

'रतलाम'—संक्षिप्त-सा उत्तर देकर वे उदास-मनसे खिड़कीके बाहर देखने लगे। उनकी पत्नी भी काफी दुःखित थीं। उस असहाय दम्पतिके मुखमण्डलके लक्षणोंसे उनके आन्तरिक भावों एवं पीड़ाको मैं समझ गया।

कोटा स्टेशनपर सारी भीड़ उतर गयी, डिब्बा फिर खाली हो गया। लगभग दो बजे नागदा आया और मैं पत्नीके साथ उतरा। उज्जैन जानेवाली गाड़ी एक घंटे लेट थी। प्लेटफार्मपर पत्नीको सामानके पास छोड़कर मैं उज्जैनका टिकट लेने खिड़कीपर गया।

दो टिकट उज्जैनके लेते समय सहसा मेरे मस्तिष्कमें उस असहाय वृद्ध दम्पतिका विचार आया और मैंने उनके लिये भी नागदासे रतलामके दो टिकट खरीद लिये। जैसे ही मैं प्लेटफार्मपर पहुँचा, गाड़ी चलने लगी थी। मैंने दौड़कर टिकट उनको दे दिये। इससे पहले कि वे कुछ कहते, गाड़ीने रफ्तार पकड़ ली।

कुछ समय बाद हमलोग उज्जैन पहुँचे। उज्जैनमें भानजेके विवाहके पश्चात् हमें वापस आना था। सोमवारका दिन था, अतः प्रातः स्नान करके श्रीमहाकालेश्वरके दर्शन करने पत्नीके साथ गये। दर्शन करके हम मन्दिरके प्राङ्गणमें आये तो देखा कि वह वृद्ध दम्पति भी हाथमें पूजाका थाल लिये

दर्शनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। वे हमें देखते ही बड़ी उत्सुकतासे मेरे पास आकर बोले—'भाई साहब! कृपया थोड़ी देर रुकिये, आपसे बात करनी है। अभी हम दर्शन करके आते हैं, जाइयेगा नहीं।'

उनके आग्रहके कारण हम रुक गये। दर्शन करनेके उपरान्त वे आये और बोले—'भाई साहब! उस दिन आपने हमारी लाज रख ली। रतलाम स्टेशनपर मजिस्ट्रेट चेकिंग हुई, बिना टिकटवाले अनेक यात्रियोंको भारी जुर्माना देना पड़ा तथा जो न दे पाये उनको कारावास जाना पड़ा। भगवान् आपका भला करेगा। यदि आप मेरी मदद न किये होते तो शायद आज हम दोनों कारावासमें होते।'

बात करते-करते हम मन्दिरके प्राङ्गणके बाहर आये। पास खड़ी कारमें बैठनेका आग्रह कर वे बोले—'चलिये, आपको घर छोड़ आते हैं।' उत्सुकतावश मैंने पूछा—'आप रतलाममें क्या करते हैं और उज्जैन आना कैसे हुआ।'

उन्होंने कहा—'भाई! भगवान्की दयासे मेरी तेलकी मिल है और कपड़ेकी आढ़तका भी व्यापार है। उस समय जेब कटनेपर मन-ही-मन महाकालेश्वरका स्मरण किया और याचना की थी कि 'हे प्रभो! संकटकी इस घड़ीमें मेरी रक्षा करो।' भगवान् महाकालेश्वरके अनुग्रहने मुझे उस विपत्तिसे उबारा था। यदि उस समय भगवान् आपको परोपकारकी प्रेरणा न देते तो हम घोर संकटमें पड़ जाते। मैं आपका बहुत ही कृतज्ञ हूँ। ऐसा कहते हुए उन्होंने टिकटके रुपये ले लेनेका आग्रह किया। मैं लेना नहीं चाहता था, किंतु उनके बार-बार आग्रहपर मैंने टिकटके मूल्यके बराबर रुपये लेकर शेष उन्हें लौटा दिये। वे दम्पति प्रसन्न-मनसे भगवान्के अनुग्रहका स्मरण करते हुए वापस रतलाम चले गये और हमलोग भी कुछ दिनों बाद उज्जैनसे अपने घर लौट आये।

वास्तवमें भगवान् इतने दयालु हैं कि यदि मनुष्य विश्वासपूर्वक उनका स्वल्प भी स्मरण-चिन्तन एवं ध्यान करता है तो वे कभी साक्षात् प्रकट होकर या कभी अप्रत्यक्ष-रूपसे किसीके मन-बुद्धिमें सत्प्रेरणा प्रकट कर उस व्यक्तिको संकटोंसे मुक्ति दिला देते हैं। यही निष्ठा दृढ़तर होती हुई भगवत्प्राप्तितक भी पहुँचा देती है। अतः नित्य-निरन्तर प्रभुका स्मरण ही इस भव-बाधासे मुक्ति प्रदान करनेका अमोघ उपाय है।

—डॉ॰ श्रीपांडुरंग नारायणजी

(३)

छोटे भाईकी सीख

हमारे बाप-दादाका व्यापार था—व्याजपर रकम उधार देना। पिताजीके मरनेके बाद मेरे बड़े भाईने इस व्यापारको सँभाल लिया। हमारा संयुक्त कुटुम्ब था। एक दिन मैं बाहरसे घर लौटा तो मैंने देखा कि एक गरीब-सा आदमी बड़े भाई साहबसे प्रार्थना करता हुआ पुराना हिसाब चुकता करनेके लिये कह रहा है। खातेमें बाकी निकलते हुए पूरे रुपये लिये बिना बड़े भाई हिसाब चुकता करनेके लिये तैयार नहीं थे। इस आदमीने मूलमें पाँच सौ रुपये व्याजपर उधार लिये थे। व्याजसमेत कुल लगभग एक हजार रुपये भर देनेपर भी अभी सात सौ रुपये उसके नाम बाकी पड़ रहे थे। मुझे यह आदमी सच्ची नीयतका और बिलकुल गरीब स्थितिका लगा। वह दो सौ रुपये लाया था और इसीमें खाता चुकता करनेके लिये गिड़गिड़ा रहा था। बड़े भाई साहब एक पाई भी कम लेनेको तैयार नहीं थे। उनके सामने मेरा कुछ बोलना उचित नहीं लगता था। पर इस परिस्थितिने मेरे मनमें बड़ी हलचल मचा दी थी।

भोजनका समय होनेपर बड़े भाई उठे और उसको यह कहते गये कि 'पूरे पैसे देने पड़ेंगे, नहीं तो रुपये वसूल करनेके लिये दावा किया जायगा।'

वह गरीब ग्रामीण जमीनकी ओर देखता बैठा रहा। मैं भी उसके सामने जडवत् बैठा था। कुछ देर बाद मैंने उस आदमीको आँसू पोंछते देखा। सचमुच वह रो रहा था। मेरे दिलपर मानो हथौड़ेकी चोट लग रही हो, ऐसा लगा। एक ओर बड़े भाई साहबका डर था, दूसरी ओर इस गरीबके प्रति दयाका भाव था। क्या किया जाय? समय कम था। मैंने निर्णय कर लिया। पासकी अलमारीसे मैंने चुपचाप बही निकालकर उसका खाता देखा तो पता लगा कि असली रकमके अतिरिक्त बहुत अच्छी व्याज पेटे जमा थी। उसके लाये हुए दो सौ रुपयेमेंसे केवल सौ ही रुपये लेकर मैंने उसके देखते-देखते खाता चुकता करके उसे रसीद दे दी और जानेके लिये कह दिया। वह खुशी-खुशी चला गया।

मेरे इस प्रकारके व्यवहारसे भाई साहब पहले तो अत्यन्त रुष्ट होकर मुझे बहुत फटकारने लगे, किंतु मेरे द्वारा बार-बार समझाये जानेपर उनका क्रोध शान्त हो गया और वे स्वयंकी गलती मानते हुए अपनी धन चूसनेकी प्रवृत्तिपर बार-बार पश्चात्ताप करने लगे। धीरे-धीरे उन्होंने ईमानदारीका व्रत ले लिया और फिर हमलोगोंका सर्वविध अभ्युदय होता गया, उचित कर्तव्य-पालनसे सुख, संतोषका वातावरण छा गया।

—के० एच० व्यास

(४)

'विश्वास' अमोघ औषध बन गया

मैं पाँचवीं कक्षाका विद्यार्थी हूँ। मेरी उम्र दस वर्षकी है। गत दो वर्षसे मेरे चेहरे, हाथों तथा पैरोंपर बहुत-से मस्से हो गये थे। मैंने एलोपैथिक, आयुर्वेदिक तथा होम्योपैथिक दवाओंका उपयोग किया, पर कोई खास फरक नहीं हुआ।

एक दिन मेरे पड़ोसकी ताईजीने मुझे बतलाया कि 'तुम भगवान् शङ्करको जल अर्पण कर उस जलको मस्सोंपर लगाओ तथा भगवान् शङ्करका सोलह सोमवारतक व्रत करो।' मैंने उनके बतलाये अनुष्ठानके अनुसार नियमपूर्वक भगवान् शङ्करकी आराधना की। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि जहाँ औषधसे कोई विशेष लाभ न हो सका, वहाँ उपर्युक्त व्रतोंके पूर्ण होनेके कुछ समय बाद ही शरीरसे प्रायः सभी मस्से गायब हो गये और मैं पूर्ण स्वस्थ हो गया। इस घटनासे मेरे मनमें भगवान्के प्रति एक आस्था जाग्रत् हुई। मैंने एक भाईको यह घटना सुनायी और उनसे इसका रहस्य जाननेकी जिज्ञासा की। उस भाईने बताया कि वास्तवमें भगवान् असीम ऐश्वर्य एवं शक्तिसम्पन्न हैं। सर्वज्ञ होनेसे वे त्रिकाल एवं कालातीत सभी बातोंके अधिज्ञाता हैं। वे कर्तुम्, अकर्तुम् तथा अन्यथाकर्तुं सर्वथा सर्वसमर्थ हैं। उनकी भक्तिपूर्वक अर्चना-उपासना अमोघ औषध बनकर उपासकके सभी क्लेशोंको सर्वथा दूर कर देती है। ऐसे चमत्कारसे उपासककी आस्था बलवती होने लगती है और वह अधिक निष्ठावान् होकर उपासना करने लगता है। फलतः वह सभी मनोरथोंको प्राप्त करता हुआ निष्काम उपासनाद्वारा स्व-स्वरूपको भी प्राप्त कर लेता है। —गोविन्दा सोमानी

मनन करने योग्य

[आत्मदर्शनसे परमात्मदर्शन]

मनुष्यमें सद्गुण और दुर्गुण दोनों होते हैं, मनुष्यको दुर्गुणोंका बोध प्रायः मित्रोंके निर्देश और शत्रुओंकी निन्दासे होता है। मनुष्य अपनी त्रुटियों, कमजोरियों और पापोंको जितना स्वयं जान सकता है, उतना अन्य कोई प्राणी नहीं जान सकता। अपने हृदयको टटोलनेसे ही मनुष्य यह जान पाता है कि मैं क्या हूँ, मुझे क्या बनना चाहिये, जिससे इस जगत्में मैं सुख और आनन्दसे रह सकूँ और परलोकका सुधार कर सकूँ।

अपने हृदयको टटोलते हुए हमें यह देखना चाहिये कि हम परमात्मा और जगत्के सामने अपना सिर ऊँचा करके चल सकते हैं या नहीं ? हम बुद्धिमान् और भले हैं या नहीं ? हमें परमात्मा और अन्तरात्माका आशीर्वाद एवं संसारके मनुष्योंका आदर और विश्वास प्राप्त है या नहीं ?

रातको सोते समय अपने दिनभरके कार्योंपर हमें दृष्टि डालनी चाहिये और यदि दिनमें हमसे कोई बुरा काम हो गया हो तो उसपर पश्चात्ताप करके आगे उस कामको न करनेकी प्रतिज्ञा करनी चाहिये। जीवन-सुधारका यह सुपरीक्षित उत्तम साधन है, इसे आत्मनिरीक्षण कहते हैं। जब हम प्रातःकाल उठकर जीवनके कामोंमें लगें तो यह ध्यान रखें कि रात्रिको आत्मनिरीक्षण करते समय हमें अपने दिनभरके किसी कार्य या व्यवहारपर दुखी होनेका अवसर उपस्थित न हो।

अपना सुधार करनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको अपनेपर अत्यधिक विश्वास नहीं करना चाहिये। जीवनमें गुणोंका धारण करना तो अच्छा है, परंतु उनपर अभिमान करना अच्छा नहीं है। अपने गुणोंसे परिचित रहनेसे मनुष्यमें आत्मविश्वास उत्पन्न होता है जो जीवनकी सफलताके लिये महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है। गुणोंपर अभिमान करनेसे मनुष्यके अपेक्षित सुधारमें बाधा उपस्थित होती है। दूसरोंकी विशेषताओंके प्रति उदार और अपनी विशेषताओंके प्रति अनुदार रहनेसे मनुष्य अपना बहुत कुछ सुधार करनेमें समर्थ हो जाता है।

मनुष्यको अपने वास्तविक स्वरूपका बोध कर्तव्य-पालनसे होता है, केवल मात्र मनन और विचार करनेसे नहीं। कर्तव्य-पालनमें निरत व्यक्तिकी उपयोगिता और विशेषताएँ दूसरे व्यक्ति ही ठीक-ठीक जान पाते हैं, दूसरोंकी दृष्टिमें उसका जितना मूल्य होता है, उसे वह व्यक्ति स्वयं नहीं जान पाता, अपनी उपयोगिताका यह अज्ञान मनुष्यको अधिकाधिक विनम्र और योग्य बना देता है।

अपनी त्रुटियोंको जाननेवाले कर्तव्यपरायण बुद्धिमान् व्यक्ति किसी उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यको सहसा ही हाथमें लेते हुए डरते हैं। जब सुलेमानको न्यायाधीशका पद अर्पण किया गया तो उन्होंने डरते-डरते उस पदको ग्रहण किया। न्यूटन-जैसे महान् विज्ञानवेत्ता और गणितज्ञ कहा करते थे कि 'मैं ज्ञानके असीम समुद्रमें मोतियोंकी खोजके लिये गोते लगाता हूँ, परंतु मुझे कतिपय कंकड़ ही हाथ लग पाते हैं।' न्यूटनकी यह विनम्रता और अपनी उपयोगिताके प्रति यह उपरामता ही थी जिसने न्यूटनको अपने जीवन-ध्येयमें निरत रहकर चमका दिया था।

मनुष्यके गुणों और बुद्धिकी पहुँचकी सीमा होती है। वह न तो निर्भ्रान्त होता है और न सर्वज्ञ। बुद्धिमान् व्यक्ति अपने विकासके लिये दूसरेकी विशेषताओंको सामने रखते और धीरे-धीरे परमात्माको, जो परमादर्श होता है, अपना आदर्श बनाकर उसतक पहुँचनेका प्रयास करते हैं। परमात्मातक पहुँचनेमें समर्थ होनेके लिये मनुष्यको अपना और परमात्माका ज्ञान उपलब्ध करना होता है। जिसने अपनेको जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। आत्मज्ञानकी प्राप्ति मनुष्यको जानमें या अनजानमें परमात्माकी ओर प्रेरित करती और परमात्माके ज्ञानसे आत्मज्ञानमें परिपक्वता आकर मनुष्य दिव्य आलोकसे प्रकाशित हो उठता है। इस आत्मज्ञानका अर्थ है—अपने प्रति सच्चा बनना। जो व्यक्ति अपने प्रति सच्चा नहीं होता, वह दूसरोंके प्रति क्यों सच्चा बन सकता है ? अपने ज्ञानसे जहाँ मनुष्यका अपना लाभ होता और उसे अपने गुणोंका ज्ञान होता है, वहाँ मनुष्य अपने और दूसरोंके प्रति न्याय करनेमें समर्थ हो जाता है। वस्तुतः मनुष्यमें दूसरोंके भावोंको समझने और उनका आदर करनेकी वास्तविक योग्यता भी इस आत्मज्ञानसे आती है। जब हम दूसरोंकी त्रुटियोंकी चर्चा करने लगें तो हमें यह सोचना चाहिये कि वे त्रुटियाँ हममें हैं या नहीं ? अपने दोषोंको और त्रुटियोंको जाननेके लिये हमें दूसरोंके दोषों और त्रुटियोंको आइना बनाना चाहिये।

अबसे हजारों वर्ष पूर्व यूनानियोंकी घोर विलासितामें यूनानके सांस्कृतिक ह्रासके बीजका वपन हुआ था। यूनानके निवासीजन भौतिक सुख और भौतिक चमकसे प्रभावित होकर शरीरके उपासक और इन्द्रियोंके दास बनकर चारित्रिक पतनकी ओर अग्रसर हो रहे थे। तब एक दिव्यात्मा महात्मा सुकरातके रूपमें अवतरित हुई। महात्मा सुकरात दिनमें चिराग लेकर एथेन्स (यूनानकी राजधानी) की सड़कोंपर घूमने लगे। लोगोंने उन्हें पागल कहा, उनकी हँसी उड़ायी। जब एक व्यक्तिने इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा—'एथेन्सके निवासी अपनेको भूल गये हैं। आँखें होते हुए भी वे अंधे बन गये हैं। उनके हृदयकी आँखें ज्योतिहीन हो गयी हैं। वे दिनमें भी अंधकारमें टटोल रहे हैं। इसीलिये उन्हें प्रकाशकी आवश्यकता है।'

'तू अपने आपको जान' सुकरातका यह महान् संदेश था। इस संदेशका प्रसार और प्रचार करनेका मूल्य उन्हें अपने प्राणोंके द्वारा चुकाना पड़ा। स्वार्थ और भोग—अज्ञान और अन्धकारमें विलीन प्रजा उनके इस संदेशका मूल्य उनके जीवनकालमें न समझ सकी। समय आया, जब उनका यह संदेश यूनानकी तीन देववाणियोंमें प्रतिष्ठित होकर डेलफीके मन्दिर-द्वारपर स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित हुआ।

आजकी भोगप्रधान संस्कृतिमें जीवन-संघर्ष और शक्ति-संचयके कारण मानवका जीवन-ध्येय पेट और पैसा बना हुआ है। मनुष्यका आत्म-अज्ञान बड़ा दुःखद और शोकपूर्ण बन गया है, जिसके कारण जीवनमें और जगत्‌में अशान्ति व्याप्त हो रही है। इसके निवारणके लिये सच्चे आत्म-दर्शनसे परमात्म-दर्शनकी ओर उन्मुख होनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये।

लोग भला कहें या बुरा, उनकी बातोंकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिये। संसारके यश और निन्दाकी कोई परवा न करके ईश्वरके मार्गपर चलना चाहिये।—रामकृष्ण परमहंस

भजनमें एक बड़ी बाधा

यद्यपि भगवान्‌पर विश्वास करके उनके अनन्य शरण हो जानेपर मनुष्यके सारे दोष अपने-आप समूल नष्ट हो जाते हैं और उसके समस्त योगक्षेमका वहन भगवान् स्वयं करते हैं, परंतु ऐसी स्थिति बहुत सहज नहीं है। सच्चे साधनके फलसे नित्य भगवत्कृपाका अनुभव होनेपर ही भगवान्‌में पूर्ण और अलौकिक विश्वास पैदा होता है और तभी मनुष्य अपने समस्त बल, लोक-परलोक और भोग-मोक्ष सब प्रभुके चरणोंपर अर्पण करके उनके अनन्य शरण होता है। क्षणविश्वासी या अल्पविश्वासी साधारण लोग इस अवस्थासे बहुत दूर रहते हैं। वे भगवान्‌के गुण और माहात्म्यको सुनकर कभी-कभी विश्वासकी ओर कुछ झुकते हैं, परंतु पर्याप्त आगे बढ़नेसे पहले ही कई प्रकारकी बाधाएँ प्राप्त कर रुक जाते हैं। इन बाधाओंमें कुछ तो पूर्वकर्मोंके प्रतिबन्धक होते हैं और कुछ वर्तमान कालके संग, स्थिति आदिके कारण उत्पन्न हुई रुकावटें होती हैं। ये बाधाएँ अनेक हैं, परंतु इस समय साधारणतः उनमेंसे धनकी चिन्ता एक प्रधान बाधा है। धनकी चिन्ताका कारण उदरपूर्ति या परिवार-पालन ही कहा जाता है, परंतु वास्तवमें मूल कारण दूसरा है—वह है हमारी कामभोग-परायणता। विषयोंके उपभोगको ही परम पुरुषार्थ और परम आनन्द माननेवाले मनुष्योंकी चिन्ताएँ मृत्युकालतक भी दूर नहीं होतीं। क्योंकि ऐसे लोग अपनी स्थितिके अनुकूल साधारण सादा जीवन बिताना भूल जाते हैं। फलस्वरूप उन्हें रात-दिन धनकी इतनी चिन्ता करनी पड़ती है कि उसके सामने भगवान् और धर्मका चिन्तन या विचार तुच्छ, अनावश्यक और कभी-कभी त्याज्य हो जाता है और वे सब कुछ भूल काम-क्रोधपरायण होकर अन्यायपूर्वक धनसंग्रहके कार्यमें लग जाते हैं। यों करते-करते ही उनके जीवनके दिन पूरे हो जाते हैं। बहुमूल्य मनुष्य-जीवन पाप-ताप बटोरनेमें ही व्यर्थ बीत जाता है। यह इतनी बड़ी हानि होती है, जिसकी बड़ी कठिनतासे भी पूर्ति नहीं होती और समय हाथसे निकल जानेपर पीछे बेहद पछताना पड़ता है।

मनुष्य यदि चाहे तो प्रारब्ध या सञ्चित-जनित प्रतिबन्धकोंको भी दूर कर सकता है। पर वर्तमान कालके संग और स्थितिसे उपजी हुई बाधाओंको तो मिटानेमें कोई संदेह ही नहीं है। यदि वह संगको बदल डाले और हृदयमें कुछ बल सञ्चय करके कुसंग और दुर्बलतावश होनेवाले प्रमाद और अकर्तव्य कार्योंको छोड़ दे तो ये बाधाएँ सहज ही दूर हो सकती हैं। वास्तवमें हमें अपने और परिवारके लिये साधारणतः अन्न-वस्त्र-संग्रह करनेमें उतनी कठिनता नहीं है। कठिनता तो यह है कि हमने अपनी आवश्यकताएँ बहुत अधिक बढ़ा ली हैं और उनकी किसी-न-किसी प्रकार पूर्ति करनेमें ही कर्तव्यकी इतिश्री समझ रखी है। यदि हम ध्यान देकर देखें तो व्यक्तिगत और समाजगत ऐसे हजारों अवसर हैं, जिनमें हम बहुत धन खर्च किया करते हैं, परंतु जहाँ बिना खर्च किये ही काम मजेमें चल सकता है, ऐसे अवसरोंपर खर्च करनेकी आवश्यकता हमने उत्पन्न कर ली है, वस्तुतः है नहीं। खाने-पहनने तथा गृहस्थीके दूसरे-दूसरे कार्योंके लिये हम ऐसी बहुत-सी चीजें खरीदते हैं, जिनके न खरीदनेसे हमें अपने जीवन-यापनमें कोई रुकावट नहीं होती। उदाहरणके लिये मनुष्यका दो कपड़ोंमें काम चल सकता है, पर वह चार-पाँच पहनता है, खानेमें मिठाई अथवा बहुत तरहकी तरकारी, अचार आदिके बिना कोई अड़चन नहीं होती, परंतु इनमें बहुत व्यय किया जाता है। छोटे साफ मकानमें रहा जा सकता है, परंतु दिखावेके लिये बड़ी-बड़ी इमारतें बनवायी जाती हैं। शाल-दुशाले, इत्र-फुलेल, साबुन, क्रीम, फरनीचर आदि हजारों प्रकारके शौकके सामानमें पानीकी तरह पैसा बरबाद किया जाता है। यह तो व्यक्तिगत बात हुई। समाजमें ब्याह-शादी, कर्णछेदन, जनेऊ, मरण आदिपर खर्च इतनी बुरी तरह किया जाता है कि जिसका दुःख पीढ़ियोंतक भोगना पड़ता है। सैकड़ों अच्छे-अच्छे घराने इस व्यय-भारसे दबकर नष्ट हो गये और होते जा रहे हैं। इधर वर्षोंसे खर्च घटानेकी तथा रीतियोंमें सुधारकी बात चल रही है और अनेक प्रकारके परिवर्तन भी हुए हैं, परंतु खर्चकी रकम घटनेके बदले बढ़ी है। खर्चके तरीके बदले हैं, खर्च नहीं घटा। बल्कि पहले जो कुछ खर्च किया जाता था, वह प्रायः ऐसी चीजोंमें खर्च होता था जो चीजें बुरे समयपर काम आती थीं और उनकी लागतसे कुछ कम कीमत चाहे जब बेंचकर वसूल की जा सकती थी, परंतु अब तो जो कुछ खर्च होता है, वह प्रायः स्वाहा ही हो

जाता है। फैशनने सबको तबाह कर दिया है। इस सारे अनर्थका कारण हमारी कामभोग-परायणताकी वृद्धि है और इसके छूटनेका असली उपाय विषय-वैराग्यपूर्वक ईश्वर-परायणता ही है। उस ईश्वरपरायणतामें भजनकी आवश्यकता है और भजन होनेमें यह धनकी 'हाय-हाय' बाधक हो रही है। अतएव अपना, समाजका और देशका लौकिक, पारलौकिक हित चाहनेवाले प्रत्येक मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह खर्च घटाये, जीवनमें सब ओर सादगीका व्यवहार करे, व्यक्तिगत और समाजगत धनकी फजूलखर्चीको दृढ़ता और बलके साथ नासमझीसे होनेवाली बदनामीको सहकर भी रोके। विवाह-शादीमें तो जो अनर्थ हो रहा है, सो बड़ा ही रोमाञ्चकारी है। खर्चकी भयानकताके कारण लड़कियोंका ब्याह नहीं होने पाता और अच्छे-अच्छे परिवार इसके लिये दुःखी हो रहे हैं। इसीके कारण प्रायः लड़के-लड़कियोंमें जन्मकालसे ही भेद-दृष्टि हो जाती है। जिसके कई लड़कियाँ हैं उसका तो जीवन ही दुःखमय बन रहा है। ऐसी स्थितिमें प्रत्येक हृदयवान् गृहस्थको इस विषयपर विचार करके कर्तव्य स्थिर करना चाहिये। कन्याके माता-पिता क्या करें उन्हें तो किसी प्रकार खेत-जमीन, घर-द्वार बन्धक रखकर वरके माता-पिताको राजी करना ही पड़ता है। परंतु वह हृदयका रक्त दिया जाता है, दहेज नहीं। जो घर सम्पन्न हैं और परमार्थके मार्गपर आगे बढ़ना चाहते हैं, वे अपनी व्यक्तिगत और समाजगत आवश्यकताओंको तुरंत कम कर दें और अपने लड़कोंका विवाह ढूँढ़-ढूँढ़कर बिना दहेज लिये गरीब माता-पिताकी सुयोग्य कन्याओंसे करनेकी प्रतिज्ञा करें। धर्मप्रेमी अविवाहित युवक भी प्रण करें कि वे अपना विवाह बिना दहेज लिये ही करेंगे। मेरा विश्वास है कि ऐसा करनेसे उन्हें परमार्थ-मार्गमें बड़ा लाभ होगा।

वस्तुतः धन अत्यन्त ही तुच्छ पदार्थ है, प्रेमघन परमात्मारूपी धनकी तुलनामें तो यह रखा ही नहीं जा सकता। सूर्य और जुगुनूकी उपमा भी इसके लिये पर्याप्त नहीं है। इसलिये इस विषयमें वृत्तियोंके अधिक लगानेकी आवश्यकता नहीं है, तथापि आज इस जड-युगमें चारों ओर धनकी पूजा हो रही है और लोग धन-चिन्तामें पड़े हुए ईश्वरको भूल रहे हैं। धन कम खर्च करनेकी इस प्रार्थनासे यह नहीं समझना चाहिये कि इसमें धनका महत्त्व बतलाया गया है, वरं यह समझना चाहिये कि धन अत्यन्त तुच्छ पदार्थ है, व्यर्थ खर्चकर और उसके उपार्जनमें समय लगाकर उसका महत्त्व बढ़ाना उचित नहीं। हम अपनी आवश्यकताओंको जितना कम करेंगे, उतना ही धनका महत्त्व घटेगा और उतना ही शीघ्र हम पाप-तापसे छूटकर परमात्माकी ओर अग्रसर हो सकेंगे। आवश्यकता ही धनकी लालसा उत्पन्न कर हमें दरवाजे-दरवाजेपर भटकाती और भगवान्‌से विमुख करती है। जिस दिन इस धनकी चाह मिट जायगी, उस दिन हम बादशाह बन जायँगे।

चाह गई चिन्ता गई मनुआ बेपरवाह।
जिसको कछू न चाहिये सो जग शाहनशाह॥

श्रीकृष्णनाम

आकृष्टिः कृतचेतसां सुमहतामुच्चाटनं चांहसामाचण्डालममूकलोकसुलभो वश्यश्च मोक्षश्रियः।
नो दीक्षां न च दक्षिणां न च पुरश्चर्यां मनागीक्षते मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीकृष्णनामात्मकः॥

(श्रीलक्ष्मीधर)

यह श्रीकृष्णनामात्मक महामन्त्र ऐसा विचित्र शक्तिशाली और सुलभ है कि जिह्वाके स्पर्शमात्रसे फलीभूत हो जाता है, यह आत्माराम आप्तकाम विशुद्धचित्त महापुरुषोंको भी अपनी ओर आकर्षित कर लेनेमें सर्वश्रेष्ठ वशीकरण है; यज्ञ, योग, तप, दानादिद्वारा भी नष्ट न होनेवाले बड़े-बड़े महापातकोंको भगानेमें एक विचित्र उच्चाटन-मन्त्र है, सर्व देश-कालादिमें कीर्तनीय होनेके कारण सुलभ भी इतना है कि गूँगे मनुष्यके सिवा चण्डालतक सभी इसका कीर्तन कर सकते हैं, कीर्तन करनेकी इच्छा मात्रसे ही यह अपनी अहैतुक कृपासे वशमें हो जाता है और दुर्लभ मोक्षलक्ष्मी तो इसके पीछे-पीछे लगी डोलती है तथा दूसरे मन्त्रोंकी भाँति इसके लिये गुरुद्वारा दीक्षा, सदाचार और पुरश्चरण आदिकी भी अपेक्षा नहीं है।

चालू वर्षका विशेषाङ्क—'देवताङ्क' अभी प्राप्य है

'कल्याण'-प्रेमी पाठकों एवं समस्त इच्छुक सज्जनोंके सूचनार्थ निवेदन है कि 'कल्याण'के वर्तमान ६४वें वर्ष (सौर चैत्र शुक्ल प्रतिपदा, वि०सं० २०४७) का विशेषाङ्क—'देवताङ्क' अभी प्राप्य है जो बहुत सीमित संख्यामें ही बचा है। अतः इच्छुक सज्जनोंको चाहिये कि वे वार्षिक शुल्क ४४.०० (चौवालीस रुपये) अजिल्द अथवा ४८.०० (अड़तालीस रुपये) सजिल्द विशेषाङ्कके लिये मनीआर्डर अथवा बैंकड्राफ्टद्वारा अविलम्ब भेजकर इसे शीघ्र प्राप्त कर लें, अन्यथा पिछले विशेषाङ्कोंकी तरह इसके भी समाप्त हो जानेपर उन्हें निराश होना पड़ सकता है।

इस अङ्कमें देव-संस्कृति और देवता-विषयक महत्त्वपूर्ण तात्त्विक सामग्रीका प्रचुर मात्रामें समायोजन किया गया है। मुख्य रूपसे इसमें देवताओंके उद्भव, तात्त्विक स्वरूप, देवतत्त्व-मीमांसा, पञ्चदेवोपासना, त्रिदेव एवं त्रिशक्ति-रहस्यके प्रस्तुतीकरणके साथ ही देवता-सम्बन्धी दार्शनिक एवं पौराणिक अवधारणाएँ आदि विषयोंका विशद वर्णन है। इसके अतिरिक्त देव-चरित्र-सम्बन्धी अनेक रोचक कथाओं एवं वैदिक तथा पौराणिक सरस आख्यानोंका भी इसमें सुरुचिपूर्ण समावेश किया गया है।

पृष्ठ-संख्या ४०८, बहुरंगे चित्र ९, सादे चित्र ९२, रेखा-चित्र ६, सुन्दर आकर्षक बहुरंगे आवरणसे युक्त यह विशेषाङ्क अपनी उपादेयता एवं गुणवत्ताके कारण सर्वथा संग्रहणीय तथा नित्य पठनीय और मननीय है।

'कल्याण'के आजीवन ग्राहक बनिये

जो सज्जन 'कल्याण'का आजीवन ग्राहक बनना चाहें, वे ५००.०० (पाँच सौ रुपये) मात्र अजिल्द अथवा ६००.०० (छः सौ रुपये) मात्र सजिल्द विशेषाङ्कके लिये (आजीवन-शुल्क) भेजकर जीवन-पर्यन्त 'कल्याण' प्राप्त कर सकते हैं। विदेशके लिये आजीवन-शुल्क क्रमशः १०००.०० (एक हजार रुपये-भारतीय मुद्रा) अजिल्दका तथा १२००.०० (एक हजार दो सौ रुपये-भारतीय मुद्रा) मात्र सजिल्दका है। किसी भी परिस्थितिमें उत्तराधिकारीको (नाम बदलकर) आजीवन-ग्राहक नहीं बनाया जा सकता। आजीवन-ग्राहक नियमतः व्यक्तिगत नामसे ही बनाये जाते हैं, किसी व्यावसायिक प्रतिष्ठान या फर्मके नामसे नहीं बनाये जाते।

'कल्याण'के पूर्ववर्ती विशेषाङ्कोंमें एकमात्र उपलब्ध 'मत्स्यपुराणाङ्क' (पूर्वार्ध) सानुवाद

'कल्याण'के ५८वें वर्ष (सन् १९८४ ई०) में प्रकाशित इस विशेषाङ्ककी बहुत थोड़ी प्रतियाँ ही अब शेष बची हैं, अतः इच्छुक सज्जनोंको मँगानेमें शीघ्रता करनी चाहिये। इस अङ्कमें साधनों, उपदेशों और उच्चकोटिके आदर्श चरित्रोंका वर्णन है, जिनके अध्ययन, अनुशीलन और धारणसे मनुष्य अपने वास्तविक अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त कर सकता है। मत्स्यावतारकी मुख्य कथाके अतिरिक्त इसमें महाराज मनु एवं मत्स्यभगवान्‌का बड़ा ही रोचक उपदेशात्मक संवाद है और सृष्टिकी उत्पत्ति, पृथ्वी-दोहन, सूर्यवंश, पितृवंश-वर्णन, चन्द्रवंशके राजाओंकी कथा, श्रीकृष्ण-चरित्र, ययाति-चरित्र एवं उनके पुत्रोंका वर्णन है। साथ ही इसमें विविध श्राद्धों, व्रतों, दान, ग्रहशान्ति एवं विभिन्न तीर्थोंके माहात्म्यसहित तीर्थराज प्रयागकी महिमा और त्रिपुरवध तथा तारक-वधकी भी कथा विस्तारसे कही गयी है। पृष्ठ-संख्या ४६८, रंगीन चित्रोंसे सज्जित इस अङ्कका मूल्य डाकखर्च-सहित २४.०० (चौबीस रुपये) मात्र है।

आवश्यक निवेदन

'कल्याण-कार्यालय' तथा 'गीताप्रेस-पुस्तक-विक्रय-विभाग' दोनों अलग-अलग विभाग हैं। दोनोंकी अलग तथा स्वतन्त्र व्यवस्था है। अतः इन विभागोंसे सम्बन्धित पत्राचार या धनादेश (मनीआर्डर) आदि सम्बन्धित विभागोंके अलग-अलग पतोंसे ही किया जाना चाहिये। दोनों विभागोंके लिये कोई धनराशि या आदेश सम्मिलित रूपसे किसी एक ही विभागके पतेसे कदापि न भेजे जायँ। कार्यकी सुचारुरूपेण व्यवस्था और शीघ्र सम्पन्नता-हेतु 'कल्याण'-विषयक पत्राचार या धनराशि-प्रेषण सीधे 'कल्याण-कार्यालय'के पतेपर और पुस्तकोंसे सम्बन्धित पत्र-व्यवहार अथवा धनादेश 'गीताप्रेस-पुस्तक-विक्रय-विभाग' के पतेपर अलग-अलग किया जाना चाहिये।

इधरमें 'कल्याण'का २२वें वर्षका विशेषाङ्क—'नारी-अङ्क' पुस्तकाकारमें पुनर्मुद्रित होनेपर उसका विक्रय 'गीताप्रेस-पुस्तक-विक्रय-विभाग' द्वारा किया जा रहा है। अतः तदर्थ मूल्य-राशि 'कल्याण-कार्यालय'के पतेपर न भेजकर सीधे 'पुस्तक-विक्रय-विभाग'को ही भेजनी चाहिये। ऐसा करके कार्यकी सम्पन्नतामें अनावश्यक विलम्ब, असुविधा और त्रुटिकी सम्भावनासे आप स्वयं बचते हुए संस्थागत इन (सम्बन्धित) विभागोंको भी उस अनपेक्षित स्थितिसे बचानेमें सहयोगी हो सकते हैं।

'कल्याण'के ग्राहकोंसे एक आवश्यक निवेदन

'कल्याण'के गत भाद्रपद वि॰-सं॰ २०४७ (सितम्बर, सन् १९९०) के छठे अङ्कमें आवरण-पृष्ठ-संख्या ४ पर इस आशयकी सूचना दी गयी थी कि 'कल्याण'के आगामी किसी अङ्कसे समस्त ग्राहकोंके पते प्रदेश-क्रमसे आवंटित करके रैपरपर कम्प्यूटरद्वारा प्रदत्त नयी ग्राहक-संख्या अङ्कित की जायगी। तदनुसार गत नवम्बर सन् १९९० (अङ्क-संख्या ८) से यह योजना कार्यान्वित हो चुकी है। अतः समस्त ग्राहक महानुभावोंसे निवेदन है कि वर्तमानमें 'कल्याण'के रैपरपर पतेके साथ लिखी हुई अपनी इस नयी आवंटित ग्राहक-संख्याको कृपया सावधानीपूर्वक नोट कर लें। भविष्यमें समस्त प्रकारके पत्राचारोंमें सभी ग्राहक महानुभाव इसी नयी ग्राहक-संख्याका ही सदैव प्रयोग करेंगे—ऐसी आशा की जाती है।

जयपुर-केन्द्रके 'कल्याण'-ग्राहकोंको आवश्यक सूचना

जयपुर तथा उसके निकटस्थ क्षेत्रोंके 'कल्याण'-ग्राहकोंके सुविधार्थ विशेषाङ्कसहित पूरे वर्ष 'कल्याण'के अङ्क प्राप्त करनेकी व्यवस्था है। जयपुर-केन्द्रपर विशेषाङ्क पहुँचनेके बाद शीघ्र ही उन सभी ग्राहक महानुभावोंको वितरण आरम्भ कर दिया जाता है, जिनके द्वारा 'कल्याण'के निमित्त वार्षिक शुल्क-राशि जयपुर-केन्द्रपर अग्रिम जमा कर दी जाती है। अतः जयपुर- केन्द्रके सभी 'कल्याण'-ग्राहकोंसे निवेदन है कि वे आगामी ६५वें वर्ष (विक्रम-संवत् २०४८) के विशेषाङ्क—'योगतत्त्वाङ्क'के लिये अपना वार्षिक शुल्क ५५.०० (पचपन रुपये) मात्र जयपुर-स्थित निम्नाङ्कित केन्द्रपर यथाशीघ्र अग्रिम जमा करके तदर्थ रसीद कृपया अवश्य प्राप्त कर लें। ग्राहकोंके सुविधार्थ इस अङ्कमें मनीआर्डर-फार्म भी संलग्न कर दिया गया है। 'कल्याण'का आजीवन-शुल्क ५००.०० (पाँच सौ रुपये) मात्र अजिल्द तथा ६००.०० (छः सौ रुपये) मात्र सजिल्दका है।

जिन ग्राहक सज्जनोंद्वारा वार्षिक शुल्क वहाँ समयपर अग्रिम जमा नहीं कराया जाता, उनको विशेषाङ्कका वितरण विलम्बसे ही हो पाता है। जयपुर-केन्द्रके ग्राहकोंको वी॰पी॰पी॰ से विशेषाङ्क भेजनेकी व्यवस्था नहीं है।

सामान्यतः साधारण मासिक अङ्कोंका प्रेषण सीधे 'कल्याण'-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर'से ही किया जाता है, पर जो ग्राहक सज्जन अपने साधारण अङ्क वर्षभर जयपुर-केन्द्रपर ही जाकर लेना चाहते हैं, उन्हें इसकी पूर्व-सूचना वार्षिक शुल्क-राशि जमा कराते समय ही रसीदमें वहाँ अङ्कित करवा देनी चाहिये। बार-बार परिवर्तन करके अङ्क भिजवानेमें कठिनाई है।

'गीताप्रेस, गोरखपुर'से प्रकाशित अंग्रेजी मासिक **'कल्याण-कल्पतरु'** (KALYANA-KALPATARU) के ग्राहक भी इस केन्द्रसे बन सकते हैं। इसका वर्ष अक्टूबरसे नवम्बरतक चलता है। वार्षिक शुल्क ३०.०० (तीस रुपये) मात्र है। इस वर्ष विशेषाङ्क-**'शिव नम्बर'** (Vol.×××vi-1,SIVA-NUMBER) प्रकाशित हुआ है।

जयपुर-केन्द्रसे थोक वितरण-व्यवस्थाके अन्तर्गत पुस्तक-विक्रेता भी 'कल्याण'-विशेषाङ्क एवं गीताप्रेसकी पुस्तकें अपने सुविधार्थ मँगवा सकते हैं। जयपुर-स्थित हमारे अधिकृत केन्द्रका पता इस प्रकार है—

गीताप्रेस-पुस्तक-प्रचार-केन्द्र (रजि॰)

बुलियन विल्डिंगके अंदर, हल्दियोंके रास्तेमें पहले चौराहेपर, जौहरी बाजार, पो॰-जयपुर-३०२००३, (राजस्थान)

एक अत्यावश्यक सूचना

गत दिसम्बरमें (दिनाङ्क २१-१२-९० को) कलकत्तामें सत्सङ्ग-समितिके तत्त्वावधानमें आयोजित (परम श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके) सत्सङ्गके बृहत् पंडालमें दैवेच्छावश अकस्मात् आग लग जानेसे अप्रत्याशित दुर्घटना हो गयी। फलस्वरूप पंडाल-स्थित पुस्तक-स्टाल पूरा-पूरा जलकर भस्म हो गया। जिसमें सभी कागज-पत्रोंसहित वहाँसे बननेवाले 'कल्याण' के ग्राहकोंकी सभी रसीदें भी जलकर नष्ट हो गयीं; उनका अब कोई रिकार्ड वहाँ नहीं रह गया है।

अतः उस समय कलकत्तामें—सत्सङ्ग-पंडालमें ग्राहक बननेवाले सभी प्रेमी सज्जनोंसे विनम्र अनुरोध है कि वे वहाँसे प्राप्त अपनी रसीदोंकी प्रतिलिपि, फोटो कॉपी कराकर आवश्यक कार्यवाही-हेतु 'कल्याण'-कार्यालय, पो॰-गीताप्रेस, गोरखपुर'के पतेपर अविलम्ब भेजनेकी कृपा करें, जिससे अग्रिम कार्य-सम्पन्नतामें वे सहायक हो सकें।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो॰-गीताप्रेस, गोरखपुर २७३००५

——::×::——